विवेक-ज्योति

रामकृष्ण मिशन,
विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर (छ. ग.)

वर्ष ४६ अंक १०
अक्तूबर २००८

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

अक्तूबर २००८

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४६
अंक १०

वार्षिक ६०/- एक प्रति ८/-

५ वर्षों के लिए – रु. २७५/-

संस्थाओं के लिये –

वार्षिक ९०/- ; ५ वर्षों के लिए – रु. ४००/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

{सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम से बनवायें}

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष: ०९८२७१ ९७५३५
०७७१ - २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

प्रिंट आर्डर - २२,७५०

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें —

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कविताएँ इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव **स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर** से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट — **'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़)** के नाम से बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना नाम, पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नं. आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमें मत भेजें।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

वर्ष ४६ अक्तूबर २००८ अंक १०

विवेक-चूडामणि

– श्री शंकराचार्य

शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो
वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः ।
तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवं जना-
नहेतुनान्यानपि तारयन्तः ।।३७।।

अन्वय – शान्ताः महान्तः सन्तः वसन्तवत् लोकहितं चरन्तः निवसन्ति; स्वयं भीमभवार्णवं तीर्णाः अन्यान् जनान् अपि अहेतुना तारयन्तः ।

अर्थ – कुछ ऐसे शान्त तथा सज्जन महात्मा होते हैं, जो स्वयं इस भीषण भवसागर को पार कर लेने के बाद अहेतुक दया से प्रेरित होकर अन्य लोगों को भी पार करते हुए वसन्त ऋतु के समान सबका हित करते हुए इस जगत् में निवास करते हैं ।

अयं स्वभावः स्वत एव यत्पर-
श्रमापनोदप्रवणं महात्मनाम् ।
सुधांशुरेष स्वयमर्ककर्कश-
प्रभाभितप्तामवति क्षितिं किल ।।३८।।

अन्वय – महात्मनाम् यत् परश्रम-अपनोद-प्रवणं अयं स्वतः एव स्वभावः । एष सुधांशुः अर्क-कर्कश-प्रभाभितप्ताम् क्षितिं किल स्वयं अवति ।

अर्थ – जैसे सूर्य के तीक्ष्ण किरणों से तप्त पृथ्वी को चन्द्रमा स्वयं ही अपने शीतल किरणों से तृप्त कर देता है, वैसे ही स्वयं प्रवृत्त होकर दूसरों के कष्टों के निवारण में तत्पर रहना ही इन महापुरुषों का स्वभाव है ।

ब्रह्मानन्दरसानुभूतिकलितैः पूतैः सुशीतैर्युतै-
र्युष्मद्वाक्कलशोज्झितैः श्रुतिसुखैर्वाक्यामृतैः सेचय ।
संतप्तं भवतापदावदहनज्वालाभिरेनं प्रभो
धन्यास्ते भवदीक्षणक्षणगतेः पात्रीकृताः स्वीकृताः।।३९।।

अन्वय – (हे) प्रभो, भवताप-दावदहन-ज्वालाभिः सन्तप्तं एनं ब्रह्मानन्द-रसानुभूति-कलितैः पूतैः सुशीतैः युतैः, युष्मत् वाक्कलश-उज्झितैः श्रुतिसुखैः वाक्यामृतैः सेचय । भवत्-ईक्षण-क्षणगतेः पात्रीकृताः स्वीकृताः ते धन्याः ।

अर्थ – हे प्रभो, मुझ संसार-ताप की दावाग्नि की ज्वालाओं से तप्त को, अपने ब्रह्मानन्द-रस की अनुभूति से युक्त, पवित्र, अति शीतल, सयौक्तिक, अपनी वाणी-रूपी कलश से निःस्रित, कानों को आनन्द प्रदान करनेवाले वाक्यामृत से सिंचित कीजिये । धन्य हैं वे लोग, जो क्षण भर के लिये भी आपकी दृष्टि में आकर पात्र के रूप में स्वीकृत हो जाते हैं ।

कथं तरेय भवसिन्धुमेतं
का वा गतिर्मे कतमोऽस्त्युपायः ।
जाने न किञ्चित्कृपयाऽव मां प्रभो
संसारदुःखक्षतिमातनुष्व ।।४०।।

अन्वय – एतं भवसिन्धुं कथं तरेय? वा का मे गतिः (भविष्यति)? कतमः उपायः अस्ति? (अहम्) किंञ्चित् न जाने । प्रभो ! कृपया माम् अव । संसार-दुःख-क्षतिं आतनुष्व ।

अर्थ – इस भवसागर को मैं कैसे पार करूँगा? या मेरी क्या गति होगी? मेरे लिये कौन-सा उपाय है? – यह सब मैं कुछ भी नहीं जानता । कृपया मेरी रक्षा कीजिये । मेरे संसार-दुःख का नाश कीजिये ।

❖ (क्रमशः) ❖

भारत-जागरण

– १ –

(सिंधु-भैरवी-कहरवा)

अब जाग रही भारत जननी ।
अवसानप्राय दुखमय रजनी ।।

छा रही अरुणिमा पूरब में,
चेतना जागती है सबमें,
बज रही रागिनी मधु स्वर में, आनन्दमगन अम्बर अवनी ।।

गहरी निद्रा में सोई थी, झूठे सपनों में खोई थी,
पर अब तन्द्रा-आलस तजकर, वह खोल रही पलकें अपनी ।।

निज गौरव में मण्डित होकर, माँ बैठेगी सिंहासन पर,
चिर दिन तक राज्य करेगी वह, राष्ट्रों में महिमामहिम बनी ।।

है भोगवाद में लिप्त विश्व, युद्धोन्माद में भ्रमित निःस्व,
वेदों की वाणी सुन 'विदेह', फिर शान्तिमयी होगी धरणी ।।

विवेकानन्द-वन्दना

– २ –

(मालकौंस-कहरवा)

भारत की जड़ता दूर करो,
हे महाप्राण, युग-उन्मेषक,
सेवा-विराग-निर्भयता के,
तुम मूर्तरूप हो उपदेशक ।।

तव ज्ञान सूक्ष्म उदात्त परम,
हरता जग का अज्ञान भरम,
तुम स्वार्थ लोभ कायरता के, हो शत्रु-रूप मूलोच्छेदक ।।

कलि का प्रकोप फैला जग में, तुम आए युग बदला पल में,
सन्देश दिया अनुपम तुमने, चिर प्राणवन्त जन मन प्रेरक ।।

अब व्यक्त करो करुणा अपनी, दुख-भार मुक्त होवे अवनी,
जब तक न सभी आलोकित हों, तुमको विश्राम कहाँ तब तक ।।

शिक्षा : एकमात्र समाधान

स्वामी विवेकानन्द

स्वामीजी की भारत सम्बन्धी उक्तियों का एक उत्कृष्ट संकलन कोलकाता के रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर ने My India, The India Eternal शीर्षक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया है। प्रस्तुत है उन्हीं उक्तियों का हिन्दी रूपान्तरण। – सं.)

ज्ञान मनुष्य में निहित है।

हम जो कहते हैं कि मनुष्य 'जानता' है, उसे ठीक-ठाक मनोवैज्ञानिक भाषा में व्यक्त करने पर हमें कहना चाहिये कि वह 'आविष्कार करता' है। मनुष्य जो कुछ 'सीखता' है, वह वास्तव में 'आविष्कार करना' ही है। आविष्कार का अर्थ है – मनुष्य का अपनी अनन्त ज्ञान-स्वरूप आत्मा के ऊपर से आवरण को हटा लेना।

हम कहते हैं कि न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण का आविष्कार किया। तो क्या वह आविष्कार किसी कोने में पड़ा हुआ न्यूटन की प्रतीक्षा कर रहा था? वह उसके मन में ही था। समय आया और उसने उसे ढूँढ़ निकाला। संसार ने जितना भी ज्ञान प्राप्त किया है, वह मन से ही निकला है। विश्व का असीम पुस्तकालय तुम्हारे मन में ही विद्यमान है। बाह्य जगत् तो तुम्हें अपने मन के अध्ययन में लगाने के लिये उद्दीपक तथा अवसर मात्र है; पर सर्वदा तुम्हारे अध्ययन का विषय तुम्हारा मन ही रहता है। सेव के गिरने ने न्यूटन को उद्दीपना प्रदान की और उसने अपने मन का अध्ययन किया। उसने अपने मन में पूर्व से स्थित विचार-शृंखला की कड़ियों को एक बार फिर से सँजोया और उनमें एक नयी कड़ी का आविष्कार किया। उसी को हम गुरुत्वाकर्षण का नियम कहते हैं। यह न सेव में था और न पृथ्वी के केन्द्र में स्थित किसी अन्य वस्तु में।

अतएव सारा ज्ञान – चाहे वह व्यावहारिक हो अथवा पारमार्थिक – मनुष्य के मन में ही निहित है। बहुधा यह प्रकाशित न होकर ढँका रहता है और जब आवरण धीरे-धीरे हटता जाता है, तो हम कहते हैं कि 'हमें ज्ञान हो रहा है' और ज्यों-ज्यों इस आविष्करण की क्रिया बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों हमारे ज्ञान की वृद्धि हो जाती है। जिस मनुष्य पर से यह आवरण उठता जा रहा है, वह अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक ज्ञानी है और जिस मनुष्य पर यह आवरण तह-दर-तह पड़ा है, वह अज्ञानी है। जिस मनुष्य पर से यह आवरण बिल्कुल चला जाता है, वह सर्वज्ञ पुरुष कहलाता है। अतीत में कितने सर्वज्ञ व्यक्ति हो चुके हैं और मेरा विश्वास है कि अब भी बहुत से होंगे तथा आगामी युगों में भी ऐसे असंख्य पुरुष जन्म लेंगे।[१]
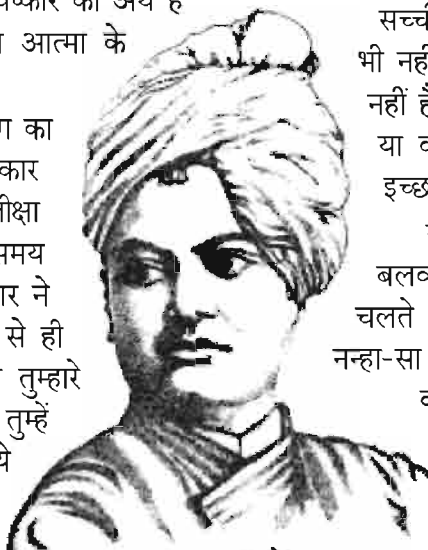
शिक्षा का तात्पर्य : शिक्षा क्या है

शिक्षा का अर्थ है, उस पूर्णता की अभिव्यक्ति, जो सब मनुष्यों में पहले ही से विद्यमान है। अत: ... शिक्षक का कार्य केवल रास्ते की सभी रुकावटें हटा देना ही है।[२]

सच्ची शिक्षा की तो अभी हम लोगों में कल्पना भी नहीं की गयी है।... यह शब्दों का रटना मात्र नहीं है, तो भी इसे मानसिक शक्तियों का विकास या व्यक्तियों को ठीक ढंग से तथा दक्षतापूर्वक इच्छा करने का प्रशिक्षण कह सकते हैं।[३]

यंत्रचलित अति विशाल जहाज और महा-बलवान रेल का इंजन जड़ हैं, वे हिलते हैं और चलते हैं, परन्तु वे जड़ हैं। और वह जो दूर से नन्हा-सा कीड़ा अपने जीवन की रक्षा के लिये रेल की पटरी से हट गया, वह चैतन्य क्यों है? यंत्र में इच्छा-शक्ति का कोई विकास नहीं है। यंत्र कभी नियम का उल्लंघन करने की इच्छा नहीं रखता। कीड़ा नियम का विरोध करना चाहता है और नियम के विरुद्ध जाता है, चाहे उस प्रयत्न में वह सफल हो, अथवा असफल, इसलिये वह चेतन है। जिस अंश में इच्छा-शक्ति के प्रकट होने में सफलता होती है, उसी अंश में सुख अधिक होता है और जीव उतना ही ऊँचा होता है। परमेश्वर की इच्छा-शक्ति पूर्ण रूप से सफल होती है, इसलिये वह उच्चतम है।

शिक्षा किसे कहते हैं? क्या वह पठन मात्र है? नहीं। क्या वह नाना प्रकार का ज्ञानार्जन है? नहीं, वह भी नहीं। – **जिस संयम के द्वारा इच्छा-शक्ति का प्रवाह तथा विकास वश में लाया जाता है और फलदायी होता है, उसे शिक्षा कहते हैं।** अब सोचो कि क्या वह शिक्षा है, जिसने निरन्तर इच्छा-शक्ति को बलपूर्वक पीढ़ी-दर-पीढ़ी रोककर प्राय: नष्ट कर दिया है, जिसके प्रभाव से नये विचारों की तो बात ही जाने दो, पुराने विचार भी एक-एक कर लोप होते चले जा रहे हैं; क्या वह शिक्षा है, जो मनुष्य को धीरे-धीरे यंत्र बना रही है? जो स्वचालित यंत्र के समान सुकर्म करता है, उसकी अपेक्षा अपनी स्वतंत्र इच्छा-शक्ति और बुद्धि के बल से अनुचित कर्म करनेवाला मेरे विचार से श्रेयस्कर है।[४]

जानकारियों से मन को भर देना ही शिक्षा नहीं है।

(शिक्षा का आदर्श है) मनरूपी यंत्र को योग्य बनाना और उस पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करना।[५]

मेरे विचार से **शिक्षा का सार – तथ्यों का संकलन नहीं, बल्कि मन की एकाग्रता प्राप्त करना है।** यदि मुझे फिर से अपनी शिक्षा आरम्भ करनी हो और इस पर मेरा वश चले, तो मैं तथ्यों का अध्ययन कदापि न करूँ। मैं अपने मन की एकाग्रता और अनासक्ति का सामर्थ्य बढ़ाऊँगा और उपकरण के पूर्णतया तैयार हो जाने पर उससे यथेच्छा तथ्यों का संकलन करूँगा। बच्चे में मन की एकाग्रता और अनासक्ति की सामर्थ्य एक साथ विकसित होनी चाहिये।[६]

शिक्षा का मतलब यह नहीं है कि तुम्हारे दिमाग में ऐसी बहुत-सी बातें इस प्रकार ठूँस दी जायँ कि उनमें अन्तर्द्वन्द्व होने लगे और तुम्हारा दिमाग उन्हें जीवन भर पचा न सके। जिस शिक्षा से हम अपना जीवन निर्माण कर सकें, मनुष्य बन सकें, चरित्र-गठन कर सकें और विचारों का सामंजस्य कर सकें, वही वास्तव में शिक्षा कहलाने योग्य है। यदि तुम पाँच ही भावों को पचाकर उसके अनुसार अपना जीवन और चरित्र गठित कर सके हो, तो तुम्हारी शिक्षा उस आदमी की अपेक्षा बहुत अधिक है, जिसने एक पूरे पुस्तकालय को कण्ठस्थ कर लिया है।... यदि अनेक प्रकार की जानकारियों का संचय करना ही शिक्षा हो, तब तो ये पुस्तकालय संसार में सर्वश्रेष्ठ मुनि और विश्वकोष ही ऋषि हैं।[७]

हमें ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है, जिससे चरित्र-निर्माण हो, मानसिक शक्ति बढ़े, बुद्धि विकसित हो और देश के युवक अपने पैरों पर खड़े होना सीखें।[८]

जो शिक्षा सामान्य व्यक्ति को जीवन संग्राम में समर्थ नहीं बना सकती, जो मनुष्य में चरित्र-बल, परोपकार की भावना और सिंह के समान साहस नहीं ला सकती, वह भी क्या कोई शिक्षा है। शिक्षा वही है, जिसके द्वारा जीवन में अपने पैरों पर खड़ा हुआ जाता है।[९]

शिक्षक का कर्तव्य

एक अन्य चीज, जिसकी हमें जरूरत है, वह है उस शिक्षा-पद्धति का निर्मूलन, जो मार-मार कर गधों को घोड़ा बनाना चाहती है।... कोई भी किसी को कुछ नहीं सिखा सकता। जो शिक्षक यह समझता है कि वह कुछ सिखा रहा है, सारा गुड़-गोबर कर देता है। वेदान्त का सिद्धान्त है कि मनुष्य के अन्तर में ज्ञान का समस्त भण्डार निहित है – एक अबोध शिशु में भी – केवल उसको जाग्रत कर देने की आवश्यकता है और यही आचार्य का काम है। हमें बच्चों के लिये बस इतना ही करना है कि वे अपने हाथ-पैर, आँख-कान का समुचित उपयोग करना भर सीख लें और फिर सब आसान है।[१०]

हस्तक्षेप मत करो ! अपनी सीमा के भीतर रहो और सब ठीक हो जायगा।[११]

किसी व्यक्ति की श्रद्धा नष्ट करने का प्रयत्न मत करो। यदि हो सके तो उसे जो कुछ अधिक अच्छा हो दे दो, यदि हो सके तो जिस स्तर पर वह खड़ा हो, उसे सहायता देकर उससे ऊपर उठा दो – परन्तु जिस स्थान पर वह था, उस जगह से उसे नीचे मत गिराओ। सच्चा शिक्षक वही है, जो क्षण भर में ही अपने को हजारों व्यक्तियों में परिणत कर सके। सच्चा शिक्षक वही है, जो छात्र को सिखाने के लिये तत्काल छात्र की ही मनोभूमि में उतर आये तथा अपनी आत्मा अपने छात्र की आत्मा में एकरूप कर सके और जो छात्र की ही दृष्टि से देख सके, उसी के कानों से सुन सके तथा उसी के मस्तिष्क से समझ सके। ऐसा ही आचार्य शिक्षा दे सकता है – दूसरा नहीं। अन्य निषेधक, निरुत्साहक तथा संहारक आचार्य कभी भलाई नहीं कर सकते।[१२]

शिक्षक और छात्र का सम्बन्ध

मैं शिक्षा को गुरु के साथ व्यक्तिगत सम्पर्क – गुरुगृह-वास समझता हूँ। गुरु के व्यक्तिगत जीवन के अभाव में शिक्षा नहीं हो सकती। अपने विश्वविद्यालयों को ही लीजिये। अपने पचास वर्ष के अस्तित्व में उन्होंने क्या किया है? उन्होंने एक भी मौलिक व्यक्ति पैदा नहीं किया। वे केवल परीक्षा लेने की संस्थाएँ हैं। सबके कल्याण के लिये बलिदान की भावना का अभी हमारे देश में विकास नहीं हुआ है।[१३]

बाल्यावस्था से ही जाज्वल्यमान, उज्ज्वल चरित्रयुक्त किसी तपस्वी महापुरुष के सान्निध्य में रहना चाहिये, जिससे कि उच्चतम ज्ञान का जीवन्त आदर्श दृष्टि के समक्ष रहे। केवल यह पढ़ लेने भर से कि 'झूठ बोलना पाप है' – कोई लाभ नहीं। हर एक को पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करने का व्रत लेना चाहिये, तभी हृदय में श्रद्धा और भक्ति का उदय होगा। नहीं तो, जिसमें श्रद्धा और भक्ति नहीं, वह झूठ क्यों नहीं बोलेगा? हमारे देश में अध्यापन का महान् कार्य सदैव निःस्पृह और त्यागी पुरुषों ने ही किया है। ... जब तक अध्यापन का कार्य त्यागी लोगों ने किया, तब तक भारत समृद्ध बना रहा।[१४]

❖ (क्रमशः) ❖

सन्दर्भ-सूची –

१. विवेकानन्द साहित्य, (संस्करण १९८९) खण्ड ३, पृ. ३; **२**. वही, खण्ड २, पृ. ३२८; **३**. वही, खण्ड ४, पृ. २६८; **४**. वही, खण्ड ७, पृ. ३५८; **५**. वही, खण्ड ४, पृ. १५७; **६**. वही, खण्ड ४, पृ. १०९; **७**. वही, खण्ड ५, पृ. १९५; **८**. वही, खण्ड ८, पृ. २७७; **९**. वही, खण्ड ६, पृ. १०६; **१०**. वही, खण्ड ८, पृ. २२९; **११**. वही, खण्ड २, पृ. ३२८; **१२**. वही, खण्ड ७, पृ. २६३; **१३**. वही, खण्ड ४, पृ. २६२; **१४**. वही, खण्ड ८, पृ. २३१

श्री हनुमत्-चरित्र (६/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(१९९१ ई. के अप्रैल-मई में रामकृष्ण आश्रम, राजकोट के तत्त्वावधान में पण्डितजी के जो प्रवचन हुए थे, 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से इन्हें लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने।

हनुमानजी ने सुग्रीव और भगवान राम की मैत्री किस आधार पर कराई? सुग्रीव में कौन-सी योग्यता या विशेषता थी? भगवान ने पूछा – तुम मुझसे सुग्रीव के पास चलने को कहते हो, उसमें क्या विशेषता है? हनुमानजी बोले – बस एक ही विशेषता है। – क्या? – वह दीन है –

दीन जानि तेहि अभय करीजै ।। ४/४/३

आप जरा सोच लीजिये। आपको ही उनकी जरूरत है। – क्यों? बोले – आपके बड़े-बड़े नाम हैं, एक नाम दीनबन्धु भी है। जब दीन ही नहीं होगा, तो आपका नाम किस काम का होगा। नाम को सार्थक करना हो तो चलिये। यही बात एक दिन गोस्वामीजी ने भी भगवान से कही थी। भगवान की सभा में पहुँच गये और बोले – आपकी सभा में बहुत से लोग हैं, पर जोड़ी तो आपकी और मेरी ही ठीक है। प्रभु चकित रह गये – यहाँ इतने बड़े-बड़े भक्त हैं! गोस्वामीजी बोले – "बात यह है कि मुझसे किसी सन्त ने कह दिया कि आपका नाम पतित-पावन है और मैं आकर आपकी पूरी सभा में ढूँढ़ने लगा कि कोई पतित दिखे। भरत, लक्ष्मण, हनुमान – सब बड़े-बड़े भक्त हैं, इनमें से क्या किसी को पतित कहा जा सकता है? आपको मेरी जरूरत इसलिये है कि यदि आप मुझे शरण में ले लेंगे और जब कोई पूछेगा कि आप पतित-पावन कैसे हैं? तो मेरी ओर उँगली दिखा दीजियेगा कि मैंने इसे स्वीकार कर लिया है, इसलिये पतित-पावन हूँ।"

यह असमर्थता, दीनता, अभाव का मार्ग बड़ा विलक्षण है। इस दैन्य-मार्ग के सन्दर्भ में सुग्रीव को एक पग भी नहीं चलना पड़ा। स्वयं भगवान ही उनके पास आ गये। हनुमानजी तो कुछ पग – कुछ दूर चले भी, परन्तु ये सुग्रीव ही ऐसे निकले, जो बैठे हुये हैं, एक पग भी चल नहीं रहे हैं।

हनुमानजी का संकेत है कि रोगी यदि चलने योग्य होता है, तो डॉक्टर के पास जाता है, पर जब चलने योग्य न हो, तब तो वैद्य को ही जाना पड़ता है। बोले – महाराज, वह बेचारा दौड़ते-दौड़ते इतना थक गया है कि अब चलने योग्य नहीं है, अत: आप ही चलिये। सुग्रीव जैसा विषयी यदि प्रभु का मित्र बन सकता है, तो अपनी विशेषता से नहीं, वरन् इस दैन्य के कारण ही बन सकता है। इसीलिये हनुमानजी ने प्रभु से कहा – आप ही चलिये और उससे मित्रता कीजिये।

प्रभु ने हँसकर पूछा – वे मुझसे मित्रता करेंगे या मैं उनसे मित्रता करूँ। वे बोले – आप ही मित्रता कीजिये। – क्यों? बोले – "प्रभो, शास्त्रों में लिखा है कि जो मित्रता करता है, उसी को धर्म निबाहना पड़ता है। मित्रता आप करेंगे, तो निर्वाह भी आपको ही करना पड़ेगा। मुझे विश्वास नहीं है कि वे निर्वाह कर सकेंगे, पर आप तो सर्व-समर्थ हैं, अत: आपको अपनी ओर से ही मित्र-धर्म का निर्वाह करना है।"

यहाँ विनय-पत्रिका का वह पद स्मरण आता है। भगवान ने गोस्वामीजी से पूछा – तुम मेरे साथ अपना कौन-सा नाता मानते हो? उन्होंने कहा – आप ब्रह्म हैं तो मैं जीव हूँ; आप स्वामी हैं तो मैं सेवक हूँ; आप मेरे माता-पिता-गुरु-सखा सब प्रकार के हिताकांक्षी हैं –

ब्रह्म तू, हौं जीव, तू है ठाकुर, हौं चेरौ ।
तात मात गुरु सखा तू सब विधि हितु मेरो ।। ७९

प्रभु बोले – तुमने तो इतने गिना डाले, इसमें से कोई एक बताओ। गोस्वामीजी ने कहा – मैंने तो गिना दिया, अब आपको जो अच्छा लगे, उसी को मान लीजिये –

तोहिं मोहि नाते अनेक मानिये जो भावै ।।

यहाँ भी वही चतुराई है। आप चुनिये, आप मानिये, आप निर्वाह कीजिये, मुझसे आशा न रखिये कि मैं निर्वाह करूँगा। हनुमानजी का भी यही तात्पर्य था। श्रीराम ने पूछा – ब्राह्मण देवता, अब आप अपनी कथा समझाकर सुनाइये। तो हनुमानजी ने चार शब्दों का प्रयोग किया – प्रभो, क्या बताऊँ, मैं तो मन्द हूँ, मोहवश हूँ, कुटिल-हृदय हूँ और अज्ञानी हूँ –

एकु मन्द मैं मोहबस कुटिल-हृदय अग्यान ।। ४/२

इसका अर्थ है कि मुझमे न ज्ञान है, न भक्ति है, न कर्म है और न सच्चा दैन्य ही है। प्रभु ने सुना और मुस्कुरा कर हनुमानजी की ओर देखा और कहा – तुम तो प्रसिद्ध कथा-वाचक हो ही, पर मैं भी एक कथावाचक हूँ। मैंने तुम्हारे इन चार शब्दों से जो अर्थ लिया, उससे मुझे बड़ा आनन्द आया। जब तुमने कहा – मन्द, तो मैं बड़ा प्रसन्न हुआ। – क्यों? बोले – लोग कहते हैं कि मन्द होना दोष है। हाँ, मन्द होना सर्वत्र दोष है, पर एक वस्तु ऐसी है, जहाँ मन्द होना गुण है – हवा की गति मन्द हो, शीतल हो और सुगन्धित हो। हवा

आँधी-तूफान के रूप में प्रिय नहीं लगती। प्रभु बोले – तुमने जब कहा कि मैं मन्द हूँ, तो मैं समझ गया कि तुम पवनपुत्र हो और पवनपुत्र को तो मन्द होना ही चाहिये। फिर मन्द होने का अर्थ है निरभिमानी होना। पवन के दो नाम हैं – प्रभंजन अर्थात् जो तोड़-फोड़ करके नष्ट कर दे। तूफान भी पवन का एक रूप है और दूसरी है विनम्रता। प्रभु बोले – मुझे तो बड़ी प्रसन्नता हुई कि तुम मन्द हो और पवनपुत्र के रूप में तुम मुझे शीतल बनाओगे। तुम मेरे श्रम को दूर करोगे।

तुमने जो कहा कि मैं मोहबस हूँ, यह भी अच्छी बात है, क्योंकि जनकपुर की सखियों ने मुझे देखकर कहा था –

कहहु सखी अस को तनु धारी
जो न मोह यह रूप निहारी ।। १/२२१/१

ऐसा कौन देहधारी होगा, जो इनके इस रूप को देखकर मोहित न हो जाय। यदि तुम मोहग्रस्त हो, तब तो तुम भक्तों की श्रेणी में आ गये। फिर जब तुमने कहा कि मैं अज्ञानी हूँ, तो मैं समझ गया कि तुम ज्ञानी हो, क्योंकि उपनिषद् कहते हैं कि जो कहता है कि मैंने जान लिया, उसने नहीं जाना और जो कहता है कि मैंने नहीं जाना, उसी ने जाना है। जो लोग अपने को ज्ञानी कहते हैं, वे अभिमानी हो जाते हैं। तो अपने को अज्ञानी कहना ही ज्ञान की सर्वोच्च स्थिति है, इसलिये मैं तुम्हारी अवस्था समझ गया। ज्ञान की यही तो परिभाषा है – ज्ञान वह है जिसमें अभिमान आदि कोई भी दोष न हो और जिसमें सभी समान रूप से ब्रह्म दिखाई देते हों –

ग्यान मान जहँ एकउ नाहीं ।
देख ब्रह्म समान सब माहीं ।। ३/१५/७

ज्ञान में अभिमान का लेश भी नहीं होता। जिसने मान लिया कि मैं ज्ञानी हूँ, तो वह पहले ही अज्ञानी हो गया। मैं ज्ञानी हूँ – कहने का अर्थ यह हुआ कि 'मैं' बना हुआ है। और 'मैं' बना रहे, तो ज्ञानी कैसे हुआ ! तो तुम्हारा स्वयं को अज्ञानी कहना ही तुम्हारे ज्ञान का परिचायक है।

अब तुमने अपने को जो 'कुटिल' कहा, तो दो कुटिल तो मेरे पास पहले से ही थे। कौन-कौन से? भगवान के घुँघराले केशों के लिये गोस्वामीजी ने कुटिल शब्द का प्रयोग किया – भगवान के कुटिल केश, बड़े सुन्दर लग रहे हैं –

कुटिल अलक जनु मधुप समाना । (कृष्ण-गीतावली, २२)

तो एक तो मेरे केश कुटिल हैं और दूसरी कुटिलता मेरे भौंहों में है। इस प्रकार एक कुटिल को तो मैंने अपने सिर पर रखा है और दूसरे कुटिल को आँखों पर; अब तुम तीसरे कुटिल आ गये हो, तो सिर तथा आँखों पर तो स्थान खाली नहीं है, इसलिये तुम्हें हृदय में ही रखना पड़ेगा।

प्रभु ने हनुमानजी को हृदय से लगा लिया। वे हनुमानजी की इस दीनता भरी वाणी को सुनकर आनन्दित हो जाते हैं। फिर हनुमानजी ने प्रभु से जो बात कही, उस पर आते हैं। उन्होंने बड़े विनम्र शब्दों में कहा – हे रघुवीर, मैं नहीं जानता कि भक्ति क्या है और भजन कैसे किया जाता है –

ता पर मैं रघुबीर दोहाई ।
जानऊँ नहिं कछु भजन उपाई ।। ४/३/२-३

त्रिभुवन-गुरु शंकरजी ही कहते हैं कि मैं नहीं जानता कि भजन और भक्ति कैसे की जाती है। यहाँ दो सूत्र हैं। हनुमान जी बोले – महाराज, सेवक स्वामी के और पुत्र माता के भरोसे निश्चिन्त रहता है। आपके साथ मेरे दोनों ही नाते हैं –

सेवक सुत पति मातु भरोसे ।
रहइ असोच बनइ प्रभु पोसे ।। ४/३/४

सेवक और पुत्र के नाते में क्या भेद है? भेद यह है कि सेवक-स्वामी के नाते में पुरुषार्थ और साधना की प्रधानता है, मगर माता-पुत्र के नाते में इनकी प्रधानता नहीं है। सेवक को सेवक-धर्म का पालन करना पड़ता है। और सेवा-धर्म तो इतना कठिन है कि योगियों के लिये भी अगम्य है –

सेवाधर्मः परमगहनो योगिनाम् अपि अगम्यः । नी. ४७

और कहा – मैं आपका पुत्र हूँ। यह पुत्रत्व योग्यता से नहीं मिलती। सेवक को जो मिलेगा, वह सेवा से मिलेगा, पर पुत्र को योग्यता से नहीं, पुत्र होने मात्र से ही मिल जायेगा। माता-पुत्र के नाते में ऐसा नहीं होता कि मैं अपने पुरुषार्थ से बेटा बन गया, अतः आपकी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी हूँ। क्या कोई प्रयत्न करके किसी का पुत्र बन जाता है?

ये दो नाते हनुमानजी ने चुने। ये साधना की दो पद्धतियाँ हैं। हनुमानजी में इन दोनों की पराकाष्ठा है – सेवक के रूप में, यदि उनकी साधना का पक्ष आप देखेंगे, तो ऐसा सेवा-धर्म, सेवा का ऐसा निर्वाह आपको कहीं नहीं मिलेगा।

रामायण में दो दिव्य चरित्र हैं श्रीभरतजी और हनुमानजी। दोनों की विशेषता यह है कि दोनों सिद्ध हैं, तथापि इनके चरित्र में साधना का दिव्य पक्ष मिलता है। भरतजी श्रीराम से अभिन्न हैं। श्रीराम हनुमानजी के समक्ष भरतजी की प्रशंसा करते हुए कहते हैं – मुझमें और भरत में कोई भेद है क्या?

तुम्ह जानहु कपि मोर सुभाऊ ।
भरतहि मोहि कछु अन्तर काहू ।। ७/३६/७

पर आप भरतजी के चरित्र में देखेंगे कि उन्होंने अयोध्या से चित्रकूट तक यात्रा की और हनुमानजी के चरित्र में आप देखते हैं कि उन्होंने किष्किन्धा से लंका तक यात्रा की। इस का अभिप्राय क्या है? हनुमानजी और भरतजी के चरित्र में, साधना का पक्ष यह है कि दोनों नित्य भगवान से अभिन्न होते हुए भी यात्रा करते हैं। भरतजी की यात्रा में साधना का एक तत्त्व यह है कि साधक को अयोध्या से चलकर चित्रकूट तक पहुँचना चाहिये और वहाँ पहुँचकर भगवान से मिलना चाहिये।

यह साधना का एक बड़ा ही अनुपम तत्त्व है। दूसरी ओर हनुमानजी ने किष्किन्धा से चलकर लंका तक यात्रा की। उस यात्रा की परिणति जगज्जननी सीताजी की प्राप्ति में होती है।

इन चरित्रों में साधना का रहस्य यह है कि यदि आप अयोध्या में रहते हैं, तो चित्रकूट तक चलिये और यदि आप किष्किन्धा में रहते हैं, तो लंका तक चलिये। दोनों यात्राओं का महानतम फल है – स्वयं भगवान और साक्षात् भक्ति।

साधक के समक्ष जो विघ्न आते हैं, उन सबको कैसे पार किया जाता है, इसे आप हनुमानजी के चरित्र से जान लें। उनकी साधना-यात्रा में पग-पग पर समस्यायें आती हैं और उनके समाधान के रूप में वे भगवान से कहते हैं – मैं आप का सेवक और पुत्र हूँ। प्रभु बोले – सेवक तो मैं बना लूँगा, पर पुत्र बनने के लिये तुम्हें लंका तक जाना पड़ेगा। प्रभु ने उन्हें तत्काल सेवा-धर्म की दीक्षा दे दी। हनुमानजी बोले – मैं नहीं जानता कि सेवा कैसे की जाती है, भक्ति कैसे की जाती है। प्रभु ने कहा – भक्ति तो तभी सार्थक है, जब उसमें अनन्यता हो। अनन्यता का अर्थ प्राय: यही माना जाता है कि हम राम-भक्त हैं, तो कृष्ण को नहीं मानेंगे। कृष्ण-भक्त हैं, तो राम को नहीं मानेंगे। शिव-भक्त हैं, तो विष्णु को नहीं मानेंगे। ठीक है, परन्तु प्रभु ने हनुमानजी को अनन्यता का कुछ दूसरा ही अर्थ बताया। वे बोले – हनुमान, यह सारा संसार एकमात्र मेरे प्रभु का ही रूप है – ऐसा मानकर जो सबकी सेवा करे, वही मेरा अनन्य भक्त है –

सो अनन्य मति जाके असि न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत।। ४/३

यही सच्ची अनन्यता है। जब आप कहते हैं – मैं कृष्ण को मानूँगा, राम को नहीं; तो आपको कृष्ण की याद भी बनी हुई है और राम की भी। तो फिर यह अनन्यता कैसे हुई? अन्य की याद तो बनी ही हुई है, चाहे मानने के लिये हो या न मानने के लिये हो। परन्तु भगवान के कथनानुसार सच्चा अनन्य भक्त वही है, जिसके लिये अन्य कोई है ही नहीं, जो सबमें प्रभु को ही देखकर सबकी सेवा करता है।

इस प्रकार प्रभु ने हनुमानजी को अनन्यता और सेवाधर्म की दीक्षा प्रदान की। रामायण में यदि प्रभु ने किसी को दीक्षा दी है, तो हनुमानजी को ही दी है। शंकरजी त्रिभुवन-गुरु हैं, उनसे तो सभी दीक्षा लेते ही हैं, पर त्रिभुवन-गुरु ने भी प्रभु से दीक्षा ली। प्रभु ने उन्हें सेवाधर्म तो बता दिया, पर पुत्र कह कर नहीं पुकारा। प्रभु का संकेत था – सेवक स्वीकार करना तो मेरे बस में है, पर पुत्र को तो माता ही जन्म देती है और वही पुत्र कहती है; तो उसे पाने के लिये तुम यात्रा करो।

इसमें एक अनोखा क्रम मिलेगा। लोग बहुत बड़ी संख्या में परमार्थ-पथ की ओर चल पड़ते हैं। हजारों बन्दर जा रहे हैं, दसों दिशाओं में जा रहे हैं और आज भी यही हो रहा है, सर्वत्र यही हो रहा है। भगवान को पाने के लिये कोई पूर्व, कोई पश्चिम, कोई उत्तर, कोई दक्षिण, कोई ऊपर, तो कोई नीचे जा रहे हैं; परन्तु बेचारे जगज्जननी सीता को पाने में सफल कहाँ हो पाते हैं! भटकते रहते हैं या लौट आते हैं।

साधना का मार्ग बड़ा कठिन है। बन्दर दसों दिशाओं में गये, पर सुग्रीव ने कह दिया था कि यदि एक महीने में पता लगाकर आ गये तो ठीक, और बिना पता लगाये भी यदि एक महीने में आ गये, तो भी चलेगा। लेकिन एक महीने के बाद बिना पता लगाये लौटे, तो प्राणदण्ड मिलेगा।

बेचारे जो बन्दर थोड़े कायर स्वभाव के थे, उन्होंने सोचा कि उतनी ही दूर चलो, जहाँ से एक महीने में लौट सकें। सीताजी मिलें, या न मिले, कम-से-कम हमारा प्राण तो बच जाय। वे सब गये और एक माह के भीतर लौटकर बोले – महाराज, हमें तो नहीं मिलीं। जो साधक दक्षिण दिशा में गये थे, वे कुछ अधिक क्षमता वाले थे। गोस्वामीजी ने लिखा – यदि कोई मुनि मिल जाता है तो बन्दर पूछ देते – हम सीताजी को खोज रहे हैं, वे कैसे मिलेंगी –

बहु प्रकार गिरि कानन हेरहिं।
कोउ मुनि मिलहि ताहि सब घेरहिं। ३/२४/२

आप भी सन्तों के पास जाते होंगे तो प्रश्न करते होंगे – सीताजी कैसे मिलेंगी? सीताजी के अनेक नाम हैं, अनेक रूप हैं। वेदान्तियों ने कहा – वे शान्ति हैं। भक्तों ने कहा – वे भक्ति हैं। कर्मयोगियों ने कहा – वे शक्ति हैं। आप इन्हीं को तो पाना चाहते होंगे? सत्संग में जाते हैं तो पूछते हैं – वे कैसे मिलेंगी? पर सुनने के बाद भी वे कितनों को मिलीं?

गोस्वामीजी ने लिखा – बन्दर पर्वत की गुफाओं में भी पैठकर सीताजी को ढूँढ़ते हैं। जो लोग पर्वतों की गुफाओं में बैठकर साधना करते हैं, वे भी तो आँखें मूँदकर, ध्यान लगा कर, योगाभ्यास करके उन्हीं को ढूढ़ने में लगे हुए हैं। जो तीर्थयात्रा कर रहे हैं, वे भी उन्हीं को ढूँढ़ रहे हैं। पर पाने की कसौटी एक ही है कि कोई विश्वासपूर्वक कहे – हाँ, मैंने पा लिया, वे मुझे मिल गईं, जीवन में कृतकृत्यता आ गई।

यह साधना का मार्ग बहुत कठिन है। बन्दर अन्त में उस साधना के मार्ग में – वन में भटक जाते हैं। वन में भटक जाने का अर्थ है संशय हो जाना। साधक के मार्ग में भी यही होता है। साधना करने पर भी जब भक्ति नहीं मिलती है, तो मन में संशय उठता है कि शास्त्रों में जो लिखा है और संतगण जो कहते हैं, वह सत्य है या नहीं? बन्दर संशय के वन में भटक गये और प्यास से मरने लगे। कहाँ जायँ, क्या करें, गला सूख रहा था। केवल हनुमानजी के अलावा बाकी सबका गला सूख रहा था। – क्यों? गले में कुछ डाल लिया जाय, तो वह नहीं सूखता। आध्यात्म-पथ में चलते हुए साधक का गला न सूखे, इसका क्या उपाय है? गले में

कोई ऐसी वस्तु डाल लीजिये, जिसके रस से सूखापन दूर होता रहे। हनुमानजी ने तो एक वस्तु गले में डाल रखी थी। जब प्रभु ने हनुमानजी को मुद्रिका दी, तो उन्होंने उसे कण्ठ में रख लिया। सारे बन्दरों को हँसी आ गई। मुद्रिका और गले में? आज तक किसी ने मुद्रिका को गले में रखा है? परन्तु हनुमानजी ने तो उसे मुद्रिका के रूप में नहीं देखा। उन्होंने देखा – उस पर तो अति सुन्दर राम-नाम अंकित है –

राम नाम अंकित अति सुन्दर ।। ५/१३/१

इसका अभिप्राय यह है कि जो साधन-पथ पर चलते हुए निरन्तर भगवान के नाम का स्मरण करता रहता है, उसे नाम का सहारा मिलता है। यदि आप नाम का सहारा लिये बिना ही तीर्थ, व्रत, योगाभ्यास के पथ पर चलेंगे, तो गला सूख जाने की, बहुत प्यास लगने की सम्भावना है।

हनुमानजी बन्दरों से बोले – मित्रो, सामने यह पर्वत है। सम्भव है कि जल पर्वत के नीचे नहीं, मगर ऊपर हो। यह साधक के लिये बहुत बड़ा सन्देश है। जब हमें सन्देह हो जाय, ऐसा लगे कि सच क्या है, हमारे जीवन में प्यास बड़ी प्रबल हो जाय, तो सन्त कहते हैं – जरा ऊपर जाइये। नीचे बैठकर यदि जल नहीं मिलता, तो ऊपर खोजिये। बन्दरों ने कहा – महाराज, प्यास से मरे जा रहे हैं, अब इस पहाड़ पर कौन चढ़े; आप ही चढ़ जाइये। बेचारा साधारण साधक नीचे से ऊपर नहीं उठ सकता। पर हनुमानजी गये और उछलकर शिखर पर पहुँच गये। उन्होंने वहाँ एक गुफा देखी। बाहर से उस गुफा में जल नहीं दिखाई दे रहा है, पर जल के पक्षी भीतर जा रहे हैं। बड़ा सुन्दर संकेत है। हनुमानजी बन्दरों को लेकर ऊपर जाते हैं और कहते हैं – मित्रो, इस गुफा में जल अवश्य है। – महाराज, कहीं दिखाई तो नहीं दे रहा है। यह गुफा क्या है? यह भगवान की कृपा की गुफा है।

साधक जब परिश्रम करते-करते, साधन करते-करते थक जाय और तब उसे हनुमानजी जैसा कोई महान् भक्त मिल जाय, तो वह कृपा की गुफा तक पहुँच सकता है।

कृपा के दो रूप हैं। एक तो ऐसा है मानो आपके सामने नदी की धारा बह रही हो और दूसरा रूप है मानो वह एक गुफा हो। कभी-कभी ईश्वर की कृपा प्रत्यक्ष नहीं दिखती, परन्तु सन्त कहते हैं – नहीं दिखती, तो भी इस गुफा में कृपा अवश्य है। यह हृदय की गुफा है। कैसे पता चला कि वह गुफा कृपा की है? हनुमानजी ने दिखाया – तीन प्रकार के पक्षी – बगुला, हंस और चक्रवाक भीतर जा रहे हैं –

चक्रवाक बक हँस उड़ाई ।
बहुत खग प्रबिसहिं ते हि माही ।। ५/२४/६

बड़े महत्त्व का सूत्र है – हंस जहाँ रहते हैं वहाँ बगुले नहीं रहते और जहाँ बगुले रहते हैं वहाँ हंस नहीं रहते। पर इस गुफा का चमत्कार यह है कि बगुले भी भीतर जा रहे थे और हंस भी जा रहे थे। बन्दरों ने पूछा – महाराज, यह क्या बात है? हनुमानजी बोले – साधना की गुफा में हंस जाया करते हैं और विषय के तालाब में संसारी बगुले जाया करते हैं, पर भगवत्कृपा के सरोवर में हंस-बगुले का भेद नहीं है, उस पर सबका अधिकार है। मेघ वर्षा करते समय यह नहीं सोचता है कि कहाँ बरसें, कहाँ न बरसें। यह वस्तुतः कृपा की गुफा है और बन्दर जब उसमें गये, तो देखा कि वहाँ स्वयंप्रभा बैठी हुई हैं। स्वयंप्रभा भगवान की कृपा है। बाकी जितनी प्रभाएँ हैं, वे स्वयंप्रभा नहीं है। दिया जलाना हो तो तेल चाहिये, बिजली के लिये भी बैटरी से तार जुड़ा होना चाहिये। पर भगवत्कृपा के लिये तो कुछ भी नहीं चाहिये –

नहिं कछु चहिय दिया घृत बाती ।।

बन्दरों ने पूछा – हमने सीताजी को बहुत ढूँढ़ा, पर वे नहीं मिलीं। स्वयंप्रभा ने पूछा – आँख मूँदकर ढूँढ़ा या खोलकर? – क्या कहती हैं देवि, हम तो एक महीने तक सोये नहीं हैं, क्षण भर के लिये भी आँखें बन्द नहीं की। तब स्वयंप्रभा ने सूत्र दिया – अब जरा आँखें मूँदकर ढूँढ़ो। बहुत बड़ा संकेत था – पुरुषार्थ बहुत कर लिया, अब कृपा का आश्रय लो। पर बेचारे बन्दर, आँख मूँदना क्या जानें?

कृपा की बात कह भी दी जाय, तो क्या होगा, हम लोगों का हाल वही होता है, जो बन्दरों का हुआ। आँखें मूँद तो लीं, पर एक मिनट में खोल लिया – कहाँ हैं सीताजी?

नयन मूदि पुनि देखहिं बीरा ।। ४/२५/६

कृपा का अर्थ यह है कि आँख मूँदिये तो विश्वास भी कीजिये। हनुमानजी तो विश्वास की प्रतिमूर्ति हैं। कृपा का सूत्र सुषेण वैद्य के प्रसंग में मिलता है। जब हनुमानजी ने उन्हें प्रभु के पास पहुँचाया, तो उस समय भी सुषेण वैद्य सो रहे थे। हनुमानजी ने उनको जगाया भी नहीं। और ऐसा भी नहीं कि उन्हीं को उठा लिया हो। वे सोये हुये थे और घर सहित उनको उठा ले गये। किसी ने हनुमानजी से पूछा – महाराज, भगवान को पाने के लिये घर-बार छोड़ना पड़ता है, जागना पड़ता है। विभीषण ने लंका छोड़ा तो भगवान मिले। आपने उन्हें जगाया भी और घर-बार भी छुड़ाया।

परन्तु सुषेण वैद्य को न जगाया, न इनका घर छुड़ाया घर-सहित ही क्यों ले आये? हनुमानजी बोले – जो प्रभु को पाना चाहता है, वह जागे और घर छोड़े, पर मैंने देख लिया कि ये तो भगवान को पाना नहीं चाहते, बल्कि भगवान ही इन्हें पाना चाहते हैं। तो मैंने कहा – न तो तुम्हें जागने की जरूरत है और न घर छोड़ने की। भगवान स्वयं तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। इस प्रकार हमें हनुमानजी के चरित्र में साधना और कृपा का अनुपम समन्वय दृष्टिगोचर होता है।

❖ (क्रमशः) ❖

भागवत की कथाएँ (१४)

स्वामी अमलानन्द

(श्रीमद् भागवतम् पुराणों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। उसकी कथाओं ने युग-युग से मनुष्य को धर्म के प्रति आस्था-विश्वास दिया है जिससे भारतवासियों ने दृढ़ आत्म-विश्वास प्राप्त किया है। उन्हीं कथाओं में से लेखक ने कुछ का चयन करके सरल भाषा तथा संक्षेप में पुनर्लेखन किया है। 'विवेक-ज्योति' के लिये इस ग्रन्थ का सुललित अनुवाद किया है छपरा के डॉ. केदारनाथ लाभ, डी. लिट्. ने। – सं.)

जरासन्ध से युद्ध

मगध के राजा जरासन्ध कंस के ससुर थे। कंस-वध की बात सुनकर वे श्रीकृष्ण से रुष्ट हो गए तथा तेइस अक्षौहिणी सेना लेकर उन्होंने मथुरा को घेर लिया। भगवान भू-भार हरने के लिए आए थे, अत: पहले उन्होंने जरासन्ध के सहायकों का वध करना ही उचित समझा। श्रीकृष्ण ने तय किया कि मगधराज का वध अभी नहीं करना है।

तभी ध्वज-पताकाओं आदि से सज्जित दो रथ सहसा आकाश से उनके सम्मुख उपस्थित हुए। रथों में अनेक प्रकार के अस्त्र थे। श्रीकृष्ण ने बलराम से कहा – "भैया, आप इन दिव्य अस्त्रों को लेकर शत्रु की सेना का नाश और यदुवंश की रक्षा कीजिए।" कृष्ण-बलराम ने अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित होकर युद्ध शुरू किया। परन्तु जरासन्ध ने कहा – "मैं बच्चों के साथ युद्ध नहीं करता। कृष्ण अत्यन्त बालक है – उसके साथ युद्ध नहीं करूँगा। मैं बलराम के साथ युद्ध कर सकता हूँ।"

भीषण युद्ध हुआ। बलराम ने जरासन्ध को वरुण-पाश में बाँध कर मार डालना चाहा। पर श्रीकृष्ण ने अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए जरासन्ध को छोड़ देने के लिए कहा। पराजित जरासन्ध लज्जित होकर अपने राज्य – मगध को लौट गया।

मगधराज जरासन्ध लाखों की संख्या में सेना एकत्र करता और युद्ध में हारकर भाग जाता। इस प्रकार उसकी सत्रह बार पराजय हुई। जरासन्ध की बार-बार पराजय के फलस्वरूप उसकी अनेक अक्षौहिणी सेना नष्ट हो गयी। पापाचारियों का विनाश करना भगवान के अवतार ग्रहण करने का उद्देश्य है – उस उद्देश्य की भलीभाँति पूर्ति हुई।

काल-यवन और मुचुकुन्द

विपत्ति कभी अकेले नहीं आती। जब जरासन्ध के साथ युद्ध हो रहा था, तभी महावीर काल-यवन तीन करोड़ सेना के साथ युद्धक्षेत्र में उपस्थित हुआ। आशंका हुई कि जरासन्ध और काल-यवन दोनों दिशाओं से मथुरा पर चढ़ाई कर सकते हैं। तब बड़े भाई बलराम की सलाह पर श्रीकृष्ण ने समुद्र में बारह योजन फैले हुए एक दुर्ग की स्थापना करके उसमें अनेक अट्टालिकाओं, भोजनालयों आदि का निर्माण कराया। उसका नाम पड़ा द्वारका।

अपनी योग-शक्ति से श्रीकृष्ण सारे यादवों को उस नगर में ले गए और उन लोगों को वहाँ रखकर बलराम के साथ मथुरा लौट आए। अब बलराम नगर की रक्षा के लिए मथुरा में रहे और श्रीकृष्ण अकेले नगर के द्वार से होकर बाहर निकल गए।

कालयवन ने सोचा कि यही मौका है। श्रीकृष्ण पैदल जा रहे हैं। उनके पास कोई अस्त्र भी नहीं है। कालयवन उन्हें पकड़ने को उनके पीछे दौड़ा। भगवान को योगीगण भी नहीं पकड़ पाते। हाथ बढ़ाते ही श्रीकृष्ण को पकड़ा जा सकता है, पर कालयवन किसी भी तरह उन्हें पकड़ नहीं सका। इस प्रकार श्रीकृष्ण दूरवर्ती एक पर्वत की गुफा में जा पहुँचे।

कालयवन श्रीकृष्ण के पीछे ही था। सहसा श्रीकृष्ण अदृश्य हो गये। यवन ने देखा कि एक व्यक्ति देह ढँककर सोया है। उसने सोचा – अब कृष्ण हाथ में आ गये। उसने उस व्यक्ति पर जोर से एक लात जमायी। सोया हुआ व्यक्ति जाग उठा और उसकी ओर ऐसे देखा कि उसकी आँखों से आग निकलने लगी। यवन उस आग में जलकर राख हो गया।

नींद से उठनेवाले वे व्यक्ति राजा मुचुकुन्द थे। राजा परीक्षित ने उनकी कथा जाननी चाही। शुकदेव ने बताया – मुचुकुन्द इक्ष्वाकु वंश के महात्मा मान्धाता के पुत्र थे। सत्य, न्याय और भक्ति उनके जीवन के नित्य संगी थे। उन्होंने बहुत पुण्य भी किए थे। असुरों के भयभीत होकर देवताओं द्वारा सहायता के लिए प्रार्थना करने पर उन्होंने उन लोगों की बहुत दिनों तक रक्षा की। देवताओं के सन्तुष्ट होकर वरदान देने की इच्छा व्यक्त करने पर वे बोले – मैं बहुत थका हूँ, मुझे लम्बी नींद की जरूरत है। यदि कोई मेरी नींद तोड़े, तो वह मेरे दृष्टिपात से ही भस्म हो जाए। देवताओं ने उन्हें वह वरदान दे दिया था। इसी वरदान से यह घटना घटी थी।

रुक्मिणी-विवाह

विदर्भ के राजा भीष्मक की रुक्मिणी नामक एक सुन्दर पुत्री थी। रुक्मिणी के पाँच भाई थे, जिनमें एक था रुक्मी। श्रीकृष्ण और रुक्मिणी एक दूसरे के गुणों के बारे में सुनकर एक-दूसरे के प्रति आकृष्ट हुए थे। पर रुक्मी अपनी बहन का विवाह चेदिराज शिशुपाल के साथ करना चाहता था।

यह सुनकर रुक्मिणी ने एक विश्वसनीय ब्राह्मण के हाथों श्रीकृष्ण को एक पत्र भेजा। उसमें लिखा था – "हे भुवन-मोहन ! तुम्हारे रूप-गुण के बारे में सुनकर मैंने अपनी आत्मा तुम्हें ही सौंप दी है। हे विभो, ऐसा उपाय करो कि सिंह की वस्तु पर चेदिराज रूपी गीदड़ हाथ न लगा सके। कल ही विवाह का दिन है। चेदिराज शिशुपाल और मगधराज जरासन्ध आदि को पराजित करके जैसे भी हो मुझसे विवाह कर लो। देवयात्रा के उपलक्ष्य में बालिका अम्बिका के मन्दिर में जाती है। उसी समय तुम मुझे जबरदस्ती बलपूर्वक रथ में उठा लेना। यदि तुम मुझे नहीं अपनाओगे तो मैं अपने प्राण त्याग दूँगी। सौ जन्मों के बाद भी मैं तुम्हें पति के रूप में पाना चाहती हूँ। यही मेरी आशा है।" यह पत्र पाकर श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी का पाणि-ग्रहण करने का निश्चय किया।

श्रीकृष्ण की आज्ञा से दारुक रथ ले आया। एक रात में ही वे विदर्भ की राजधानी कुन्तनपुर पहुँच गए।

यह बात सुनकर बलदेव अनेक हाथी, घोड़े, पैदल सेना आदि लेकर कुन्तनपुर में जा पहुँचे। भीष्मक और शिशुपाल के पिता दमघोष दोनों ने अपने अपने कुल की प्रथा के अनुसार विवाह-प्रक्रिया के सारे कृत्य सम्पन्न किये।

इधर ब्राह्मण-दूत को न लौटा देख रुक्मिणी अत्यन्त चिन्तित थीं। अन्त में ब्राह्मण सुसंवाद लेकर आए। बहुत देर होने पर भी उन्होंने श्रीकृष्ण के आने की बात बतायी। कृष्ण के चरणों का ध्यान करते करते रुक्मिणी ने नगर की नारियों तथा सखियों के साथ अम्बिका के मन्दिर में पूजा आदि सम्पन्न किया। अस्त्रधारी सैनिक राजकन्या को चारों ओर से घेरे हुए थे। समवेत राजागण कन्या का रूप-लावण्य देखकर मुग्ध थे। उन लोगों के बीच श्रीकृष्ण को देखकर लज्जावती कन्या आनन्दित एवं आश्वस्त हुई। रुक्मिणी जब वापस लौट रही थीं, तभी श्रीकृष्ण ने सहसा उन्हें खींचकर अपने रथ पर बैठा लिया तथा आँधी-तूफान की गति से बाहर चले गए।

क्या करें – यह न समझ पाकर उपस्थित सारे राजा बुद्धू की भाँति देखते रह गए। होनेवाली पत्नी को इस तरह एक दूसरा व्यक्ति ले गया, यह देखकर शिशुपाल मर्माहत हुए और दुखी होकर विलाप करने लगे। जरासन्ध ने शिशुपाल से कहा – "राजा, तुम दु:खी मत होओ। मनुष्य की प्रिय-अप्रिय वस्तु में कोई स्थिरता या स्थायित्व नहीं है। जादूगर की इच्छा से ही कठपुतली का खेल होता है; मनुष्य भी ईश्वर की इच्छा से ही सुख-दु:ख का भोग करता है।"*

जरासन्ध ने और भी बहुत सांत्वना दी। वह बोला – "मैंने तेइस अक्षौहिणी सेना लेकर अट्ठारह बार इन पर आक्रमण किया था, पर केवल एक बार ही विजय पायी है। इसमें दु:ख या आनन्द की कोई बात नहीं है। अनुकूल समय होने पर हम लोगों की फिर विजय होगी।"

राजागण अपने-अपने राज्य को लौट गए। पर रुक्मी का क्रोध मिटा नहीं। उसने कृष्ण पर चढ़ाई कर दी। परन्तु वह उनसे लड़ने में सक्षम नहीं था, अत: युद्ध में पराजित हुआ।

श्रीकृष्ण युद्ध में पराजित रुक्मी का वध करने वाले थे, तभी रुक्मिणी ने उनसे अपने भाई के प्राणों की रक्षा के लिए प्रार्थना की। श्रीकृष्ण ने रुक्मी का वध तो नहीं किया, परन्तु बाल-दाढ़ी काटकर उसे बाँध रखा। वैसे बलराम ने आकर निश्चय ही रुक्मी को मुक्त कर दिया था।

रुक्मिणी से विधिवत विवाह कर श्रीकृष्ण अपनी पत्नी के साथ द्वारका लौट आए और वहाँ उत्सव की धूम मच गयी।

प्रद्युम्न

यथासमय रुक्मिणी को एक बड़ा सुन्दर पुत्र हुआ। उसका नाम प्रद्युम्न रखा गया। जन्म के छठें दिन ही सम्बर नामक एक दैत्य ने उसका हरण करके उसे समुद्र में फेंक दिया। एक मछली उसे खा गयी; परन्तु वह मछली एक मछुआरे के जाल में फँस गयी और मछुआरा उसे सम्बरासुर के घर में ही दे गया। इधर उस घर की भोजन पकानेवाली ने मछली को काटा तो उसके पेट से एक परम सुन्दर शिशु बाहर निकला। जिसने भी उसे देखा, बोला – यह तो स्वयं कामदेव के समान सर्वांग सुन्दर बालक है।

वस्तुत: यह शिशु पूर्व जन्म में कामदेव ही था। सम्बरासुर के यहाँ रसोई बनाने वाली स्त्री ही पूर्वजन्म में कामदेव की पत्नी रति थी। बच्चे को देख उस महिला को बड़ी ममता हो गयी और वह उसका बड़े स्नेह से लालन-पालन करने लगी। एक दिन सर्वज्ञ नारद मुनि ने आकर उस महिला को उसके पूर्व जन्म की सारी बातें बता दीं।

सम्बरासुर के घर में ही प्रद्युम्न बड़ा होने लगा। जब प्रद्युम्न ने युवावस्था में प्रवेश किया, तब उस महिला ने रति देवी का रूप धारण कर प्रद्युम्न को पूर्वजन्म की यादें दिला दीं। कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न ने अपनी माया के अस्त्र से सम्बरासुर का वध कर दिया और रति के साथ द्वारका चले गए।

प्रद्युम्न और नववधू रति को रुक्मिणी पहचान नहीं सकीं। तब नारद मुनि ने उपस्थित होकर खोये हुए पुत्र प्रद्युम्न के पूर्वजन्म तथा इस जन्म की सारी बातों की सूचना दी। खोये हुए पुत्र और उसके साथ ही पुत्रवधू को पाकर रुक्मिणी तथा अन्य पुर-वासिनियों के आनन्द की सीमा न रही।

❖ (क्रमशः) ❖

आत्माराम के संस्मरण (४)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्दजी से उन्हें संन्यास-दीक्षा मिली थी। उन्होंने बँगला में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। अब तक हम उनके तीन ग्रन्थों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी' एवं 'आत्माराम की आत्मकथा' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। १९६५-६६ के दौरान उन्होंने एक बार पुन: अपने जीवन के कुछ संस्मरणों को बँगला भाषा में लिखा था। उनमें से कुछ घटनाएँ प्रकाशित हुई हैं और कुछ नयी – अप्रकाशित हैं। पूर्व-प्रकाशित घटनाएँ भी भिन्न विवरणों के साथ भिन्न रूप में लिखी गयी हैं, अत: पुनरुक्त होने पर भी रोचक, शिक्षाप्रद तथा प्रेरणादायी हैं। अनुवादक तथा सम्पादक हैं – स्वामी विदेहात्मानन्द। – सं.)

स्वर्गाश्रम (ऋषीकेश) में तपस्या

संन्यासी स्वर्गाश्रम में आया है। संध्या होने को थी। किशनपुर के स्वामी करुणानन्दजी, बेलूड़ मठ के गोपाल महाराज (गोपालानन्दजी) को साथ लिये हाजिर हुए। बोले – "तुम तो यहाँ हो, इसीलिये तुम्हारे पास रहने की तीव्र इच्छा होने से गोपाल महाराज यहाँ आये हैं। मैं चलता हूँ। अब तुम्हीं इन्हें सँभालो।"

यह कहकर वे चले गये। छोटी-सी कुटिया थी, केवल एक ही खाट थी। क्या किया जाय! दो दिन पूर्व ही एक वानप्रस्थी दम्पति स्वर्गाश्रम छोड़कर ऋषीकेश में रहने चले गये थे और उनकी कुटिया, जो एकदम लछमन झूले की ओर फाटक के पास थी, खाली हुई थी। संन्यासी गोपाल महाराज से बोला – "आप मेरे कमरे में रहिये, मैं वहाँ चला जाता हूँ।" वे बोले – "नहीं भाई, ऐसा कैसे हो सकता है! मैं ही वहाँ चला जाऊँगा" – यह कहकर वे किसी भी प्रकार संन्यासी की कुटिया में रहने को तैयार नहीं हुए।

हार मानकर वह उन्हें वहीं ले गया। उन दिनों वहाँ एक बड़े-से भालू का बड़ा आतंक चल रहा था। उसने एक पहाड़ी महिला को मार डाला था। एक अन्य पहाड़ी को फाड़ कर मार डाला था और कई लोगों को घायल कर दिया था। इसके अलावा एक जंगली हाथी भी आश्रम के अनेक पेड़-पौधे तोड़कर अत्याचार कर रहा था। यह सब सूचित करने के बाद संन्यासी ने उन्हें रात में कमरे से बाहर निकलने से मना किया और अपनी कुटिया में चला आया।

रात को एक-डेढ़ बजे थे। पास की कुटिया के (मलयाली) ब्रह्मचारी गिरिधारी ने संन्यासी को पुकारकर कहा – "जल्दी आइये। वृन्दावन से दो नागा साधु आये हैं। उनकी कुटिया पर धावा किया है और उनमें से एक अन्धे हैं।" लालटेन हाथ में लिये उनके साथ जाकर संन्यासी ने देखा – गोपाल महाराज उन लोगों की कुटिया में हैं। पूछा – "क्या बात है?" नागाओं ने बताया – "यह साधु दुष्ट होगा। वह चिल्ला रहा था – बचाओ, बचाओ। आकर देखा तो वे खड़े हैं और ये बैठे हैं। दोनों एक-दूसरे को जकड़े हुए चिल्ला रहे हैं।" संन्यासी ने कहा – "आप लोग जाइये। हम लोग देखते हैं कि बात क्या है।" – "ये सब बंगाली हैं, वह भी बंगाली है, समझ लेगा" – यह कहकर चला गया।

तब संन्यासी ने गोपाल महाराज से पूछा – "क्या बात है? जिस कुटिया में रख गया था, उसमें से इन लोगों के पास क्यों आये, मेरे पास क्यों नहीं आये?"

वे बोले – "भाई, रात में बड़ा भय लगा। तुम्हें परेशान न करके रात इनके पास बिताने आया। वृन्दावन में इन लोगों से परिचय हुआ था।"

इसके बाद वे साधु बोले – "ये जब आये, उस समय मैं सो रहा था। तन्द्रावस्था में ही मैंने दरवाजा खोल दिया और फिर सो गया। थोड़ी देर बाद लघुशंका करने के लिये उठकर बाहर जाने के बाद जब फिर कमरे में घुस रहा था, तब उनके ऊपर गिर पड़ा। उन्होंने फर्श पर अपना आसन लगा रखा है, इस बात का मुझे स्मरण न था। उन्होंने जब मुझे जोर से पकड़ा, तो मैंने सोचा कि भूत ने पकड़ लिया है, इसीलिये बचाओ, बचाओ – कहकर चिल्लाने लगा। और ये भी चिल्लाने लगे। हम लोगों की चिल्लाहट सुनकर बगल के कमरे के साधु (अन्धे) भी चिल्लाने लगे। इसके बाद नागा लोग भी दौड़े आये और उन लोगों के हाथ के लालटेन के प्रकाश में इन्हें देख सका, उसी समय इन्होंने भी मुझे देखकर छोड़ दिया। उसके बाद आप लोग आये।"

गोपाल महाराज से पूछा – "आप उनको पकड़कर चिल्ला क्यों रहे थे?" वे बोले – "भाई, मैंने सोचा कि भालू कमरे में घुस गया है, क्योंकि लगा कि उनींदी अवस्था में शायद दरवाजा बन्द करना भूल गया है।"

गोपाल महाराज का स्वभाव था, बैठे-बैठे जप करना और

तन्द्रालु हो जाना। उन लोगों के कमरे में आकर जप करते-करते निद्रामग्न हो गये थे। वह बाहर से लौटते समय उनके ऊपर गिर पड़ा था और उनके मन में भालू का बड़ा आतंक था। नींद की अवस्था में उसे भालू समझकर जोर से पकड़ लिया और दूसरे को था भूत का भय। उसने सोचा कि भूत ने पकड़ लिया है। इसी से दोनों चिल्लाने लगे। पास के कमरे के अन्धे साधु ने सोचा कि चोर-डकैत आये हैं, इसीलिये भय से चिल्लाने लगा। दोनों ही इस घटना से बड़े लज्जित थे।

इसके बाद संन्यासी गोपाल महाराज को अपनी कुटिया में ले गया और स्वयं जंगल के भीतर स्थित एक अन्य खाली कुटिया में चला गया, जिसकी चाभी गिरिधारी के पास थी। परन्तु रात में फिर गड़बड़ हुई। संन्यासी गोपाल महाराज को ढिबरी और दियासलाई दिखाकर कह आया था कि जरूरत होने पर जलाएँगे। बाद में गोपाल महाराज ने ज्योंही ढिबरी जलायी, त्योंही एक बड़ा-सा कुछ ऊपर से कूदकर उनके बिस्तर पर पड़ा। उन्होंने तत्काल बत्ती बुझा दी और – ''बिच्छू-बिच्छू'' कहकर चिल्लाते हुए गिरिधारी के पास जा पहुँचे। गिरिधारी ने पुन: संन्यासी को बुलाया। परन्तु बहुत ढूँढ़ने पर भी कुछ नहीं मिला।

गोपाल महाराज वहाँ ७-८ दिन रहे।

उदर-निमित्तं बहुकृत-वेशम् – अवधूत

संन्यासी स्वर्गाश्रम में है। वहाँ एक अवधूत के साथ परिचय हुआ। बंगाली थे। सम्भवत: बरीशाल या फरीदपुर की ओर के थे। घर का नाम तो ठीक मालूम नहीं, परन्तु वहाँ एक साधु ने उनका नाम 'मुकुन्द राय' बताया था।

संन्यासी ने कुटिया के बाहर मिट्टी के तेल के दो टूटे हुए कनस्टरों में बालू भरकर उन्हें दोनों तरफ रखकर उसके ऊपर एक तख्ता लगाकर एक बेंच जैसा बना लिया था। उसका अभ्यास था – काफी रात तक उसी बेंच पर बैठकर जप करना। जिस ओर से हवा आती थी, उसकी उल्टी दिशा में दीवार की आड़ में वह बेंच था। इससे जाड़ों में चलने वाली ठण्डी हवा, जो उस तरफ ठण्ड के दिनों में चलती है, सीधे शरीर पर नहीं लगती थी।

एक दिन काफी रात गये, दस बजे के भी बाद की बात है, (जाड़े के दिन थे, इसलिये सब निर्जन हो जाता था, कोई व्यक्ति बाहर नहीं दीख पड़ता था)। देखा कि वे ही अवधूत गिरिधारी की कुटिया की खिड़की तथा दरवाजे की दरार से झाँककर देख रहे हैं। काफी देर तक वे उसी प्रकार देखते रहे, परन्तु उसे पुकार कर बुलाया नहीं। गिरिधारी किसी-किसी दिन उस समय रात में खिचड़ी बनाकर खाया करता था। लालटेन जलाकर रखता। अवधूत को इस बात की कल्पना तक न थी कि संन्यासी उस समय इस प्रकार बाहर बैठा होगा और उसके क्रिया-कलाप देख सकेगा। उसके बाद संन्यासी की कुटिया में हाजिर होते ही सीधे मुख पर पूछ बैठा – ''क्यों अवधूतजी ! इस समय रात में उसके कमरे में झाँक-झाँक कर क्या देख रहे थे? यह तो साधु का कार्य नहीं है। सी.आइ.डी. का काम कर रहे हैं क्या?''

अवधूत – ''नहीं, नहीं, आप क्यों वैसा सोचते हैं ! वह तो परिचित है। ऐसे ही देख रहा था।''

संन्यासी – ''इस प्रकार छिपकर देखना साधु के लिये उचित नहीं है। आशा करता हूँ कि आप फिर कभी इतनी रात को (ऋषिकेश से) यहाँ आकर ऐसा नहीं करेंगे।''

अवधूत कुछ बोल न पाकर चुपचाप चले गये। उनके जाने के बाद संन्यासी को सन्देह हुआ कि अवधूत के वेश में वे सी. आइ. डी. के आदमी हैं। तब तक सरकार की धारणा थी कि रासबिहारी बोस की टोली के लोग उधर साधु के वेश में रहते हैं। परन्तु रासबिहारी तब तक जापान पहुँच गये थे।

इसके बाद संन्यासी जब ऋषीकेश चला गया और एक कुटिया में रहने लगा। उस समय उसे आँव का रोग हुआ था। दाल-रोटी से उसमें वृद्धि हो रही थी। सत्र में जो भात दिया जाता था, वह कच्चा ही रहता। वे लोग उसे चावल कहते और उसे कड़ा ही रखते भी थे। नरम भात वे लोग पसन्द नहीं करते थे। संन्यासी उसे दुबारा उबालकर खाता। पैसे नहीं थे कि थोड़ी-सी दही खा सके।

एक दिन अवधूत आकर हाजिर हुए। – ''यह क्या कर रहे हैं?'' संन्यासी ने सारी बात बतायी। वे बोले – ''उसे मत खाइये। उसको मुझे दे दीजियेगा। आँव होने पर तो दही-भात खाना चाहिये। मैं ले आता हूँ।'' यह कहकर वे चले गये और शीघ्र ही सुन्दर सुगन्धित बासमती चावल का भात और आधा पाव दही लेकर हाजिर हुए।

संन्यासी ने जब पूछा – ''आपके पास तो पैसे नहीं हैं, फिर कहाँ से लाये?'' तो अवधूत बोले – ''आपको इसकी चिन्ता करने की जरूरत नहीं। आपका आँव ठीक न होने तक मैं प्रतिदिन ले आऊँगा और आप वह दाल-रोटी-भात मेरे लिये रख दीजियेगा।''

सचमुच ही १० दिनों तक वे दही और भात लाते रहे। परन्तु कहाँ से लाते हैं – पूछने पर कुछ भी नहीं बोलते। उनके इतना सब करने के बावजूद संन्यासी के मन से वह पूर्वोक्त धारणा दूर नहीं हो रही थी।

एक दिन संन्यासी बाबा काली कमलीवाला का नया आयुर्वेदिक अस्पताल तथा औषधालय देख रहा था। अस्पताल में जाकर उसने देखा कि आँव के कई रोगी वहीं शौच करके पड़े हुए हैं। एक वृद्ध तो बहुत ही दुर्बल था। और उनके ऊपर मक्खियाँ भनभनाती रहती थीं। उस समय साढ़े नौ बजे थे। उसने वैद्यराज से कहा – ''यह कैसी व्यवस्था है? इतना

समय हो गया है और रोगियों की ऐसी अवस्था है ! सफाई कौन करता है? इसके लिये जिम्मेदार कौन है?''

वैद्यराज गम्भीर होकर बोले कि उनका कार्य दवा देना है, इसके अतिरिक्त उनका अन्य कोई भी उत्तरदायित्व नहीं है।

संन्यासी बोला – ''यह कैसी बात ! समय पर रोगियों की सफाई न होने पर प्रबन्धकों को सूचित करना आपका कर्तव्य है। इससे रोग बढ़ता है। यह चिकित्सालय है या मरणालय?''

वैद्यराज नाराज हो गये और बोले – ''आपको यदि इतनी ही संवेदना है, तो आप खुद जाकर बोलिये न !''

संन्यासी स्वयं ही बीमार था, अत: स्वयं ही उनको थोड़ा धो-धाकर साफ करने की सामर्थ्य उसमें नहीं थी। वह इस विषय में अस्पताल के प्रबन्धकों का ध्यान आकर्षित करने के लिये निकला था कि अवधूत से मुलाकात हो गयी।

अवधूत – ''उधर कहाँ गये थे?''

संन्यासी – ''चलकर देखिये न, रोगियों की क्या अवस्था है ! वैद्यराज से कहा, तो उन्होंने दोनों कन्धे झाड़कर कह दिया कि रोगियों की सफाई उनकी जिम्मेदारी नहीं है। इसीलिये मैनेजर को बताने जा रहा था।''

रोगियों की वैसी दयनीय दशा देखने के बाद अवधूत ने कहा – ''आप क्या चाहते हैं ! इनको धो-पोंछकर साफ-सूफ कर देना, यही न ! अभी कर देता हूँ। आप चले जाइये। यह संक्रामक रोग है और आप पहले से ही बीमार हैं।''

अवधूत ने इतना कहकर बलपूर्वक वैद्यराज की बाल्टी तथा झाड़ू ले लिया। उन्होंने बहुत विरोध किया, लेकिन सुनता कौन है? इसके बाद उन्होंने कम्पाउंड के ही कुएँ से पानी निकालकर पूरे वार्ड को धोकर उन लोगों के मलयुक्त वस्त्रों आदि को धोकर सूखने डाल दिया।

इसके बाद वे संन्यासी के पास आकर बोले – ''अब देखिये – ठीक हुआ है न ! मैं रोज सुबह एक बार आकर सब कर जाऊँगा। आपको इसके लिये आना नहीं होगा।''

यह काम वे प्रतिदिन नियमित रूप से करने लगे। सत्रवाले भी उनसे बड़े खुश थे। उनका मान-सम्मान भी खूब बढ़ गया। वे लोग कहा करते – ''यह देखो, सच्चा साधु है। बाकी सब भिखारी के समान हैं। बस, रोटी-दाल ले जाते हैं, सेवाभाव नहीं है।''

एक अन्य दिन संन्यासी ने देखा कि सत्र के दरवाजे के पास कोई दो दक्षिण भारतीय पागलों को लाकर बैठाकर चला गया है। उनका शरीर तथा वस्त्र खूब मैले थे। उनके बाल उलझे हुए थे और मक्खियाँ उन्हें परेशान कर रही थीं। उनका हाव-भाव देखकर ऐसा लगता था कि दोनों जुड़वे भाई हैं और दोनों ही अच्छे हट्ठे-कट्ठे शरीरवाले थे। संन्यासी सोच रहा था – यदि दोनों को पकड़कर गंगा-स्नान कराया जाय और सिर पर थोड़ा तेल दिया जाय, तो अच्छा रहेगा। परन्तु उन दोनों को पकड़कर स्नान कराने ले जाना ५-६ बलवान लोगों का कार्य होगा। अवधूत उसी समय अस्पताल की सफाई करके लौटे। पूछा – ''क्या देख रहे हैं?''

– ''देखिये न, इन लोगों का क्या हाल है ! लगता है पिछली रात कोई इन्हें छोड़ गया है। सोच रहा था कि कुछ लोग मिलकर उन्हें पकड़कर ले जायँ और गंगा में नहलाकर इनके सिर पर थोड़ा तेल लगा देने से बड़ा अच्छा होता।''

– ''ओह, इतना ही। तो कई लोगों की क्या जरूरत है? ठहरिये, थोड़ा तेल ले आऊँ।'' इतना कहकर वे सत्र से एक कुल्हड़ में तेल माँगकर ले आये। उसे उन्होंने एक साधु को पकड़ाया। इसके बाद उन्होंने दोनों का गरदन पकड़कर ऊँचा करते हुए उन्हें खड़ा कराया और खींचते हुए गंगा में ले गये। बहुत-से लोग मजा देखने गये।

उन्होंने दोनों को खींचकर गंगा में उतारा। उनमें से एक को कई लोगों को पकड़े रहने को कहकर अन्य को उन्होंने खूब रगड़-रगड़कर नहलाया। उसके बाद दूसरे को भी उन्होंने उसी प्रकार स्नान कराया। उनका शरीर खूब स्वच्छ हो गया। उनके सिर पर तेल लगाने के बाद उन्हें धूप में बैठाया। इसके बाद उनके कपड़ों को साबुन से धोकर साफ कर दिया। वे लोग सारे समय – ''हाय, हाय'' करते रहे। इसके बाद उन्हें फिर पकड़कर सत्र के दरवाजे पर ले आये और दाल-रोटी लाकर दोनों को खाने के लिये दिया।

स्नान आदि के बाद वे लोग बड़े अच्छे दिख रहे थे। वे लोग खाकर वहीं धूप में लेटकर सो गये। अवधूत बोले – ''हर रोज स्नान कराऊँगा। लगता है ये लोग उसी से ठीक हो जायेंगे।'' संन्यासी के खूब धन्यवाद देने पर अवधूत बोले – ''यह सेवा तो आपने ही सिखाई है !''

अवधूत का शरीर लोहे के समान मजबूत था। स्वामीजी खूब बलवान शरीर – लोहे की मांसपेशियाँ चाहते थे और यह बात उन्हें देखते ही समझ में आ जाती थी। उस ठण्ड में भी वे केवल एक कौपीन मात्र पहनकर रहते थे। वे सबके श्रद्धापात्र हो गये थे और संन्यासी के साथ प्रीति हो गयी थी। परन्तु संन्यासी के मन में वह जो संशय घुस गया था, वह निकलता नहीं था। वह स्वयं ही बीच-बीच में लज्जित होता और सोचता – छी ! छी ! मेरा मन कितना मलिन है !

सुशील चॅटर्जी नामक एक सज्जन गृहस्थाश्रम के कष्ट से भागकर ऋषीकेश में आये। घर में उनकी दो पत्नियाँ थीं और नित्य झगड़ती रहती थीं। वे उस माहौल में रह न पाकर भाग आये थे। किसी सरकारी दफ्तर में हेडक्लर्क थे (यही परिचय दिया था)। पहले तो स्वर्गाश्रम में रहे, उसके बाद ऋषीकेश में गंगा के किनारे स्थित एक धर्मशाले में चले गये।

संन्यासी के साथ परिचय होने के बाद उन्होंने अपने घर

(कोलकाता के भवानीपुर में) पत्र लिखा। दफ्तर से तो वे sick-leave (बीमारी के नाम पर छुट्टी) लेकर आये थे। उस पत्र में उन्होंने अपने लौटने की शर्त यही लिखी कि छह-छह महीने एक पत्नी घर में रहेगी और दूसरी पिता के घर में। उनकी सहमति का पत्र आ जाने पर वे घर लौटने के लिये तैयार हुए। जिन १०-१२ बंगाली साधुओं से उनका परिचय हो गया था, जाने के पूर्व उन्होंने उन सबको भुनी हुई खिचड़ी, दही और मिठाई खाने का निमंत्रण दिया।

रसोई संन्यासी की देखरेख में हो रही थी। अवधूत वहाँ आकर हाजिर हुए। वे संन्यासी को ढूँढ़ने गये थे। कुटिया में न मिलने पर पता लगाकर वहीं चले आये थे। सुशील बाबू ने उनका भी स्वागत किया और वहीं भोजन करने का आग्रह किया। सुशील बाबू बोले – "भोजन तैयार हो गया था। जिनका स्नान आदि करना बाकी हो, वे करके आ जायँ।" यह सुनकर तीन-चार लोग गंगा की ओर चल पड़े। अवधूत भी गये। संन्यासी उन लोगों को जल्दी लाने के लिये गंगा के घाट पर गया। बड़ी मुश्किल से दो-तीन डुबकियाँ लगाने के बाद ही सभी लोग काँपते हुए बाहर आ रहे थे। यह देखकर अवधूत हँसते हुए बोले – "अरे, यह भी स्नान है क्या? यह तो काक-स्नान हुआ ! कैसे स्नान किया जाता है, दिखा दूँ? बोलिये, कितनी डुबकियाँ लगाऊँ? सभी को मौन देखकर बोले – "तो ५०० डुबकियाँ लगा देता हूँ।" एक-दो-तीन करते हुए सीधे ५०० तक पहुँच गये और वह बर्फ जैसा ठण्डा पानी नाक-मुख से झर-झर पड़ रहा था। – "और भी ५०० डुबकियाँ लगाऊँ क्या?"

संन्यासी ने मना किया – "खिचड़ी ठण्डी हो जायेगी, चलिये, और जरूरत नहीं है !" सभी लोग उनका दम और इतनी ठण्ड सहने की क्षमता देखकर विस्मित थे। भोजन के बाद धूप में बैठकर हर प्रकार की चर्चा चल रही है। अवधूत बोले – "देखा जाय कि कौन कितने मिनट तक सूर्य की ओर अपलक देखता रह सकता है। और तदनुसार आरम्भ करके वे पूरे एक घण्टे देखते रहे। सभी स्तम्भित रह गये। वाह, क्या अभ्यास है ! उसके बाद शाम हो जाने पर सब अपनी-अपनी कुटिया में चले गये। अवधूत भी चले गये।

स्वामी विवेकानन्द का जन्मोत्सव था। कनखल के सेवाश्रम से बुलावा आया था। संन्यासी गया। दूसरे या तीसरे दिन अवधूत भी हाजिर हुए। संन्यासी पुराने दवाखाने के सामने खड़ा होकर पूज्य निश्चयानन्दजी (छोटे स्वामी) के साथ बातें कर रहा था। – "आइये अवधूतजी, कब आये?" – "अभी -अभी आया हूँ।" – "चलिये भोजन कर लीजिये, समय हो गया है।" कहकर संन्यासी उन्हें खाने के लिये बैठाकर फिर दवाखाने में आया, तो छोटे स्वामीजी बोले – "तुम्हारे साथ इसका परिचय कैसे हुआ? वह तो पुलिस का आदमी है।"

संन्यासी – "महाराज, मुझे तो पहले दिन से ही ऐसा ही सन्देह हुआ था। सोच रहा था कि मेरे मन की मलिनता है, इसीलिये ऐसा सन्देह कर रहा हूँ। अब देखता हूँ कि आप भी वही बात कह रहे हैं।" छोटे स्वामीजी – "हाँ, हाँ, वह रासबिहारी को पकड़ने के लिये यहाँ पड़ा हुआ है। जानता नहीं कि वह उस पार चला गया है।" खैर, भोजन आदि के बाद वे चले गये। संन्यासी विस्मित हो कर सोचने लगा – **उदर-निमित्तं बहुकृत-वेशम्** – और वह भी यहाँ तक ! साधकगण भी जो नहीं कर पाते, वह वे कर पा रहे हैं। अहा, यदि वे सममुच ही साधु हों, तो कितना अच्छा होता !

दूसरे दिन छोटे स्वामीजी स्टेशन से आकर बोले – "अजी, आज तो अवधूत निश्चित रूप से पकड़ में आते-आते बच गया। मैं दवाओं का पार्सल छुड़ाने स्टेशन गया था। लाट (गवर्नर) साहब आ रहे थे, इसलिये सभी अफसर उपस्थित थे, सब बन्द था। स्टेशन मास्टर ने मुझे तारघर में बैठे रहने को कहा। उनके चले जाने पर पार्सल देनेवाले थे।

स्टेशन मास्टर के कमरे की ओर जा रहा था, सहसा पूरे इंस्पेक्टर की पोशाक पहने एक व्यक्ति नजर आया। मुझे देखते ही वह टोपी से मुख को ढँककर दूसरी ओर चला गया। मुझे सन्देह हुआ कि वही अवधूत होगा। आमने-सामने पकड़ने का बहुत प्रयास किया, परन्तु वह सारे समय मुझसे दूर-दूर रहने लगा। लाट साहब के चले जाते ही देखा तो सारी पुलिस थी, परन्तु वह व्यक्ति गायब था। समझे न, वह निश्चित रूप से वही अवधूत रहा होगा।"

संन्यासी अगले दिन फिर उसी चिकित्सालय के सामने खड़ा होकर छोटे स्वामीजी के साथ बातें कर रहा था। वे स्वामीजी के बारे में पुरानी बातें कह रहे थे और prescription (नुस्खे) भी लिख रहे थे। तभी सहसा अवधूत आ पहुँचे – पक्के अवधूत। उन्हें देखते ही छोटे स्वामीजी कह उठे – "आइये इंस्पेक्टर साहब। आपकी वह पोशाक कहाँ है?"

अवधूत – "कैसी पोशाक? मैं तो अवधूत हूँ।" इतना कहकर वे वहीं धूल में लोटने लगे। छोटे स्वामीजी – "अब और ढोंग करने की क्या जरूरत है? उठ जाइये। जाओ, इन्हें खाने को दो।" अवधूत – "मैं खाने नहीं आया।"

छोटे स्वामीजी – "हाँ हाँ, देखने आये हैं, पर रासबिहारी यहाँ नहीं है। वह तो कब का उस पार जा चुका है। नहीं जानते? सारी दुनिया जानती है। जापान चला गया है।"

आग्रह करने पर भी उन्होंने कुछ खाया नहीं, चले गये।

सात-आठ दिन बाद संन्यासी ऋषीकेश लौट गया। सबने उससे पूछा – "अवधूत दिखाई नहीं दे रहे हैं। कहाँ गये, आप जानते हैं क्या?" इसका एक ही उत्तर था – "नहीं।"

सत्रवाले ने भी संन्यासी के सामने उनकी खूब प्रशंसा की – "वही सच्चे अवधूत साधु थे, खूब सेवाभावी थे।" ❑❑❑

नारदीय भक्ति-सूत्र (२८)

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के बारहवें अध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्दजी ने अपनी जापान-यात्राओं के दौरान वहाँ के भक्तों के लिये अंग्रेजी भाषा में, प्रतिवर्ष एक सप्ताह 'नारद-भक्ति-सूत्र' पर कक्षाएँ ली थीं, जिनका हिन्दी अनुवाद वाराणसी के श्री रामकुमार गौड़ ने किया है। – सं.)

त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी, भक्तिरेव गरीयसी ।।८१।।

अन्वयार्थ – **त्रिसत्यस्य** – सनातन सत्य के प्रति, **भक्तिः एव** – भक्ति ही, **गरीयसी** – श्रेष्ठतम है।

अर्थ – परम सत्य (ईश्वर) की भक्ति ही श्रेष्ठतम है। भूत, वर्तमान और भविष्य – तीनों कालों में एकमात्र ईश्वर ही सत्य हैं। जो कभी असत् नहीं हैं, सभी कालों में विद्यमान और चिरंतन है – यह है ईश्वर की महिमा। ऐसे ईश्वर की भक्ति करना ही उत्तम है। परम सनातन सत्य के प्रति अनुराग ही श्रेष्ठतम है। यही प्रेम वस्तुत: सर्वोच्च है। इस उक्ति पर बल देने के लिये ही इसकी पुनरावृत्ति की गई है।

अब तक पराभक्ति या ईश्वर के प्रति परम प्रेम की प्राप्ति के साधनों को सविस्तार बताया जा चुका है। जिन बाधाओं से बचना है, उन्हें भी बता दिया गया। इस प्रकार भक्त मार्ग के खतरों से बचेगा। वह उन परम सत्य – जो भूत, वर्तमान तथा भविष्य में अर्थात् सनातन रूप से सत्य हैं, की अनुभूति के लिये बताये गये साधनों में निरन्तर लगा रहेगा। यहाँ तात्पर्य यह है ईश्वर ही सनातन सत्तावान हैं, बाकी सबकी सत्ता अल्प काल के लिये ही होती है। सर्वकाल में सत्तावान होने के कारण ही ईश्वर हमारे प्रेम के पात्र हैं।

गुणमाहात्म्यासक्ति-रूपासक्ति-पूजासक्ति-स्मरणासक्ति-दास्यासक्ति-सख्यासक्ति-वात्सल्यासक्ति-कान्तासक्ति-आत्मनिवेदनासक्ति-तन्मयतासक्ति-परमविरहासक्ति-रूपा एकधा अपि एकादशधा भवति ।। ८२।।

अन्वयार्थ – **एकधा** – (भक्ति) केवल एक होकर, **अपि** – भी, **गुणमाहात्म्यासक्ति** – ईश्वर के गुण-कीर्तन के प्रति प्रेम, **पूजासक्ति** – पूजा में प्रेम, **स्मरणासक्ति** – स्मरण की लालसा, **दास्यासक्ति** – सेवा की इच्छा, **सख्यासक्ति** – उनके प्रति मित्र भाव की इच्छा, **वात्सल्यासक्ति** – ईश्वर के प्रति सन्तान रूप से प्रेम की इच्छा, **कान्तासक्ति** – ईश्वर से पति रूप में प्रेम की इच्छा, **आत्मनिवेदनासक्ति** – ईश्वर के प्रति शरणागति की इच्छा, **तन्मयतासक्ति** – ईश्वर में तन्मय रहने की इच्छा, **परम-विरहासक्ति** – ईश्वर के प्रति विरह-वेदना की इच्छा – (**इति** – इस प्रकार यह भक्ति) **एकादशधा** – ग्यारह प्रकार की, **भवति** – होती है।

अर्थ – भक्ति यद्यपि एक है, तथापि यह इन ग्यारह रूपों में प्रकटित होती है – ईश्वर के माहात्म्य के वर्णन के प्रति प्रेम, ईश्वर के सम्मोहनकारी रूप से प्रेम, उनकी पूजा के प्रति प्रेम, उनके स्मरण से प्रेम, उनकी सेवा से प्रेम, उनके प्रति सख्य भाव से प्रेम, उनके प्रति वात्सल्य भाव से प्रेम, उनके प्रति पति भाव से प्रेम, ईश्वर की शरणागति से प्रेम, उनके प्रति तन्यमता से प्रेम और उनके प्रति विरह-वेदनामय प्रेम।

इस सूत्र में हम देख चुके हैं कि पराभक्ति, एक होकर भी, निम्नलिखित ग्यारह रूपों में अभिव्यक्त होती है –

१. ईश्वर के गुण-माहात्म्य से प्रेम, ईश्वर के विभिन्न गुणों से प्रेम (अर्थात् निरन्तर ईश्वर के गुणों का चिन्तन-मनन या निरन्तर ईश्वर के गुणों के स्मरण की इच्छा।

२. ईश्वर के रूप-लावण्य से अनुराग

३. उनकी पूजा के प्रति लगाव

४. उनके स्मरण से आसक्ति

५. दास्य भाव से उनसे प्रेम की इच्छा

६. सख्य भाव से उनसे प्रेम की इच्छा

७. वात्सल्य भाव से (अर्थात् ईश्वर को अपनी सन्तान के रूप में) उनसे प्रेम करने की इच्छा।

८. ईश्वर के प्रति पति भाव से प्रेम करने की इच्छा।

९. ईश्वर शरणागति से प्रेम

१०. ईश्वर में पूर्णरूपेण तन्मय हो जाने की अभिलाषा

११. ईश्वर के लिये विरह-वेदना जाग्रत रहने की इच्छा

भक्ति के इतने रूप हो सकते हैं या भक्त इनमें से किसी एक भाव को अपनाकर भक्ति कर सकता है। ये सभी रूप परस्पर-सम्बन्धित माने जाते हैं। जब किसी व्यक्ति में ईश्वर के प्रति परम प्रेम विकसित होता है, तो उसमें ईश्वर के प्रति ये भाव या दृष्टिकोण विकसित हो जाते हैं। यहाँ वर्णित प्रकारों में प्रथम है – ईश्वर के गुण-माहात्म्य से प्रेम। वस्तुत: भक्त यहीं से अपनी भक्ति शुरू करता है। ईश्वर की महिमा का चिन्तन करना चाहिये, ताकि हम क्रमश: उनसे अधिकाधिक आसक्त हो सकें। इसके बाद है – उनके रूप-लावण्य से अनुराग। ईश्वर के रूप-सौन्दर्य के चिन्तन का अर्थ है थोड़ा और निकट जाना या ईश्वर से अन्तरंग सम्बन्ध बनाना। फिर आती है पूजा से आसक्ति अर्थात् उनकी पूजा करना या उनकी पूजा से आसक्ति रखना। अगला है उनके स्मरण से आसक्ति। इसके बाद अन्य विभिन्न भावों का उल्लेख किया गया है।

ईश्वर के प्रति दास्य-भाव से प्रेम। यह उनके साथ अन्तरंग निजी सम्बन्ध की शुरुआत है, स्वामी के प्रति सेवक का भाव। भक्त स्वयं को सेवक और ईश्वर को अपना स्वामी

मानता है। निकटता के क्रम में अगला भाव है, भक्त द्वारा ईश्वर को अपना सखा मानना। इस सम्बन्ध का अर्थ है मानो लगभग उन्हीं के स्तर का हो जाना। सेवक स्वयं को स्वामी से थोड़ी दूरी पर रखता है, किन्तु सखा को किसी प्रकार की दूरी रखने की जरूरत नहीं होती। वह इतना अन्तरंग होता है कि ईश्वर को अपने ही बराबरी का मानता है। सख्य-भाव के सम्बन्ध का यही सौन्दर्य है।

पिता या माता और सन्तान के बीच का सम्बन्ध तो और भी प्रगाढ़ होता है। यहाँ भक्त ईश्वर को सन्तान समझकर स्वयं को पिता या माता मान सकता है। यह एक बड़ा मधुर सम्बन्ध है, जिसमें 'लेन-देन' का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। माता-पिता सन्तान से कुछ भी अपेक्षा नहीं रखते। उन्हें तो केवल देना रहता है और बदले में कुछ पाना नहीं होता। भक्त ईश्वर के प्रति यही भाव रखता है। भक्त उन्हें प्रेम संरक्षण आदि देता है उनसे कोई प्रतिदान नहीं चाहता। अत: स्वाभाविक रूप से ही यह एक सर्वाधिक नि:स्वार्थ प्रकार का प्रेम है। इसके बाद ईश्वर के प्रति कान्ता प्रेम या मधुर भाव है। यह प्रेयसी का अपने प्रेमी के प्रति रहनेवाला भाव है। यह सर्वाधिक अन्तरंग प्रकार का, सर्वाधिक घनिष्ठ और प्रगाढ़ प्रकार का प्रेम माना जाता है।

फिर आता है शरणागति का भाव – 'ईश्वर की इच्छा पूर्ण हो।' भक्त ईश्वर से कुछ भी नहीं चाहता और अपने पास आने वाली हर वस्तु के बारे में मानता है कि वह ईश्वर से मिली है। वह स्वयं को पूर्ण रूप से ईश्वर-इच्छा के प्रति समर्पित कर देता है। अगला है ईश्वर में तन्मयता से प्रेम। यह तन्मयता इतनी प्रगाढ़ हो सकती है कि भगवान और भक्त के अलग-अलग होने का भाव ही समाप्त हो जाता है। तब मात्र ईश्वर ही रहते हैं और भक्त उस दिव्य प्रेम में पूर्णतया तन्मय होकर पूरी तौर से डूब जाता है। उसका अलग व्यक्तित्व भी नहीं रह जाता और वह ईश्वर से एकाकार हो जाता है।

अन्तिम प्रकार है – ईश्वर-प्राप्ति न होने से भक्त के हृदय में उत्पन्न होनेवाला विरह-जन्य कष्ट। उसे ईश्वर से वियोग का हर पल असह्य प्रतीत होता है। यह अन्तिम प्रकार है, किन्तु यह विरह-वेदना ऐसी होती है, जिसे भक्त छोड़ना नहीं चाहता। वह इस कष्ट से मुक्त होना नहीं चाहता, क्योंकि यह भगवान के अदर्शन के कारण उत्पन्न परम विरह-वेदना है। इसे ईश्वर-भक्ति का सर्वाधिक प्रभावी रूप कहा जाता है, जो तत्काल ही सहज भाव से ईश्वर-तन्मयता ला देता है। भक्त के चित्त में इस प्रकार का भाव उदय होते ही समझा जा सकता है कि अब उसे ईश्वर-प्राप्ति होने ही वाली है।

ये सूत्रों में उल्लेखित प्रेम के विभिन्न रूप हैं। ये एक ही ईश्वर-प्रेम के विभिन्न पहलू हैं। यह प्रेम एक ही है, तथापि उपरोक्त ग्यारह रूपों में अभिव्यक्त हो सकता है। तात्पर्य यह है कि इन विभिन्न भावों में से किसी एक भाव के द्वारा भी ईश्वर-प्राप्ति हो सकती है। ये ग्यारह रूप इसलिये बताये गये हैं, ताकि भक्त इनमें से किसी एक को अर्जित कर सके।

श्रीरामकृष्ण कहते थे कि ईश्वर के प्रति प्रगाढ़ भक्ति पैदा करने के लिये भक्त को ईश्वर के साथ किसी एक तरह के सम्बन्ध का भाव रखना पड़ता है। उसे ईश्वर के प्रति स्वामी, सखा, पुत्र, प्रेमी आदि में से कोई एक भाव रखना चाहिये। ईश्वर-प्राप्ति के लिये इनमें से कोई एक भाव ही यथेष्ट है, वैसे भक्ति-शास्त्रों में कहा गया है कि इससे क्रमश: ईश्वर, शास्त्रों आदि के प्रति आदर का भाव विकसित होता जाता है। यह मात्र आदर-भाव नहीं, वरन् प्रेम-मिश्रित आदर-भाव है। इसे शान्त-भाव कहते हैं। इसमें भाव का उच्छ्वास नहीं रहता। व्यक्ति अपनी अन्य सभी प्रवृत्तियों को दबाकर ईश्वर का शान्त-भाव से ध्यान-चिन्तन करता है। उसका मन नीरव और प्रशान्त बना रहता है। इसीलिये इसे शान्त कहा जाता है। जब मन की वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं, तो वह तरंग-रहित सागर के समान हो जाता है। कुछ ऐसे ऋषि थे, जो श्रीकृष्ण के प्रति बड़ा आदर-भाव रखते थे, पर स्वयं को यह सोचकर उनसे दूर रखते थे कि वे इतने साधारण हैं कि ईश्वर तक पहुँच नहीं सकते। अत: वह भेद या दूरत्व का भाव अति प्रशंसनीय स्तर तक विद्यमान है। ऋषियों की भक्ति का वर्णन करनेवाला एक सुन्दर श्लोक भागवत में है –

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ।।१/७/१०

– आत्मा के आनन्द में तन्मय ऋषिगण भी हरि के पाद-पद्मों में निष्काम भक्ति रखते थे। हरि की ऐसी ही महिमा है।

इस प्रकार ईश्वर से सम्बन्ध-स्थापन भक्ति का प्रारम्भिक सोपान है। इसका उल्लेख ऐसे भाव के रूप में नहीं किया गया, जिसे भक्त को अन्त तक रखना होगा। उसे इस भाव से शुरुआत करने के बाद इस अवस्था से ऊपर उठना चाहिये। वैसे इस तरह का भाव रखनेवाला कोई तपस्वी या ऋषि महान् भी हो सकता है।

भक्ति प्राप्त करने के लिये अधिक घनिष्ठता की आवश्यकता होती है। भक्त ऐसे सम्बन्ध से सन्तुष्ट नहीं होता, जिसमें भगवान उससे बहुत दूर, उसकी पहुँच से परे हो। अत: वह भगवान के साथ अधिकाधिक घनिष्ठ सम्बन्ध रखना चाहता है। यद्यपि हम इन सम्बन्धों का उल्लेख कर चुके हैं, तथापि यहाँ उनकी विस्तार से व्याख्या करते हैं।

ईश्वर के साथ निजी सम्बन्धों की श्रेणी में पहला भाव है ईश्वर को स्वामी और स्वयं को उनका सेवक मानना। इसमें कोई उच्छ्वास नहीं है, परन्तु अधिक अन्तरंगता है। निस्सन्देह सेवक स्वामी के प्रति आदर भाव रखता है, पर इसके बावजूद दोनों के बीच एक प्रेमपूर्ण सम्बन्ध रहता है। सेवक

न केवल स्वामी का आदर करता है, बल्कि वह उनसे प्रेम भी करता है। अत: यह एक अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है।

सेवक और स्वामी के सम्बन्ध के बारे में रामायण से हनुमान और श्रीरामचन्द्र का उदाहरण दिया गया है। हनुमानजी श्रीराम के परम भक्त थे। श्रीराम की सेवा को ही वे अपने जीवन का एकमात्र उद्देश्य मानते थे। उन्होंने स्वयं को अपने स्वामी की सेवा में पूर्णतया समर्पित कर दिया था। स्वामी के प्रति सेवक की भक्ति का यह एक दृष्टान्त है।

अगला सम्बन्ध सख्य भाव का है। इसमें ईश्वर को सखा माना जाता है। एक मित्र अपने मित्र की महानता के बारे में उतना नहीं सोचता, क्योंकि महानता का भाव भेद पैदा करता है ('मेरा मित्र दूसरों के लिये एक महान् व्यक्ति हो सकता है, पर मेरी दृष्टि में तो वह बस मेरा मित्र है, प्राय: मेरे ही समान) श्रीकृष्ण की वृन्दावन-लीला में इन सभी सम्बन्धों का दृष्टान्त मिलता है। भागवत में हमें इनके सुन्दर उदाहरण मिलते हैं।

श्रीकृष्ण और उनके गोप सखाओं के जीवन में सख्य-भाव का सुन्दर चित्रण मिलता है। गोप-बालक श्रीकृष्ण को कभी-भी कोई महान् व्यक्ति नहीं मानते थे। यहाँ तक कि वे कृष्ण के कन्धों पर चढ़ने या उन्हें अपना जूठा भोजन देने में भी कोई संकोच नहीं करते थे। ऐसा करना मात्र वहीं सम्भव है, जहाँ सख्य-भाव का एक सहज प्रगाढ़ सम्बन्ध हो। एक मित्र दूसरे मित्र के साथ बराबरी का व्यवहार करता है, उससे कुछ भी नहीं छिपाता और हर तरह से समानता के स्तर पर अपने मित्र के सुख को देखकर सुखी होता है। वृन्दावन के गोप-बालकों का श्रीकृष्ण के साथ ऐसा ही सम्बन्ध था।

इसके बाद सन्तान के प्रति माता-पिता का भाव आता है। यह सम्बन्ध श्रीकृष्ण के प्रति यशोदा के भाव में सुन्दर रूप में चित्रित हुआ है। यह कथा बड़ी सुन्दर है। श्रीकृष्ण वस्तुत: देवकी और वासुदेव के पुत्र थे, परन्तु जन्म लेते ही उन्हें अपने जन्म-स्थान से दूर रहनेवाले नन्द और यशोदा के घर में ले जाया गया। वे लोग पशुपालन और दूध-दही आदि से जीविका-निर्वाह करनेवाले सरल दम्पत्ति थे। कंस श्रीकृष्ण का वध करना चाहता था। उन्हें उन लोगों के घर इसलिये ले जाया गया, ताकि कंस को उनका पता न चल सके।

ईसा-मसीह के जीवन में भी ऐसी ही कथा है। बेथेलहेम में जब ईसा का जन्म हुआ, तो राजा हेरोद के दूतों ने उसे बताया कि मेरी का पुत्र यहूदियों का राजा होगा। अत: हेरोद उस बच्चे का वध करने को आतुर था। ईसा को मिस्र ले जाया गया, ताकि हेरोद उनकी हत्या न कर सके। हेरोद ने बेथेलहेम के सभी बच्चों को मारने का आदेश दिया। चूँकि वह ईसा को पहचानता नहीं था, अत: उसने सोचा कि ईसा उन्हीं बच्चों में से एक होगा और वह भी मर जायेगा।

इसी प्रकार कंस भी श्रीकृष्ण के पीछे पड़ा था और उन्हें मार डालना चाहता था। अत: श्रीकृष्ण को उस कारागार से दूर ले जाया गया, जिसमें कंस ने उनके माता-पिता को रखा था। बालक कृष्ण को यमुना नदी के दूसरे तट पर स्थित नन्द-यशोदा के घर ले जाया गया। नन्द-यशोदा ने उनका पालन-पोषण किया और कथा में है कि यशोदा ने भी करीब उसी समय ही एक सन्तान को जन्म दिया था, परन्तु वे नहीं जानती थी कि वह सन्तान पुत्र था या पुत्री। श्रीकृष्ण को ले जाकर यशोदा से जन्मी कन्या की जगह रख दिया गया। इसलिए नन्द और यशोदा श्रीकृष्ण को अपना ही पुत्र मानते रहे और उनके ऊपर अपना स्नेह ढालते रहे।

बालकृष्ण के प्रति नन्द-यशोदा के स्नेह की इस सुन्दर कथा को भागवत के कई अध्यायों में वर्णित किया गया है। वे दोनों कभी कृष्ण की महानता के बारे में नहीं सोचते थे। यहाँ तक कि जब कृष्ण कुछ असाधारण चमत्कार कर देते थे, तो वे उन कार्यों को किसी राक्षस द्वारा किया कार्य मानते और शान्ति के लिये पूजा-यज्ञ कराते, जैसा कि माता-पिता करते हैं, ताकि राक्षस उन्हें छोड़ दे। वे कभी नहीं सोचते कि उनका पुत्र बालक के रूप में आविर्भूत साक्षात् ईश्वर ही है।

यद्यपि बीच-बीच में यशोदा को अवगत कराया जाता था कि कृष्ण साक्षात् ईश्वर हैं, तो भी उनके मन में भक्त-भगवान का भाव नहीं आता था। एक माँ को इन सबसे क्या लेना-देना? कृष्ण ईश्वर हो सकते हैं, पर अपनी माँ के लिये तो वे शिशु ही हैं। अत: कृष्ण के प्रति नन्द-यशोदा का यह जो अपनत्व का भाव था – उसमें महिमा-ऐश्वर्य, महानता और स्नेही तथा स्नेहपात्र के बीच भेद पैदा करनेवाले किसी भी विचार का लेश तक न था। उसमें ऐसा कोई भेद नहीं था। दूसरी ओर, माता-पिता बच्चे को एकमात्र अपने ही प्रेम पर आश्रित मानते हैं। वे शिशु की देखरेख करते हैं, न कि उससे किसी संरक्षण की अपेक्षा करते हैं। श्रीकृष्ण को संरक्षण देना है, न कि उनसे संरक्षण पाना है। यह सम्बन्ध पूर्ण नि:स्वार्थ है। यह विशुद्धतम नि:स्वार्थ प्रेम का, अपनी सन्तानों के प्रति माता-पिता के स्नेह का एक दृष्टान्त है।

फिर आता है – पति-पत्नी के बीच या प्रेमी-प्रेमिका के बीच का प्रेमपूर्ण भाव। इसमें भक्त अपने को पत्नी या प्रेयसी और भगवान को पति या प्रेमी मानता है। इस भाव में मानवीय सम्बन्धों के माध्यम से आवेग की तीव्रता लाना ही मुख्य बात है। श्रीकृष्ण और श्रीराधा की कथा में इस प्रेम का चित्रण किया गया है। ध्यान रहे, वे पति-पत्नी नहीं हैं, राधा प्रेयसी हैं और श्रीकृष्ण प्रेमी हैं। इसे इस ढंग से क्यों चित्रित किया गया? क्योंकि इसमें प्रेम की तीव्रता चरम सीमा पर है। पति-पत्नी के बीच प्रेम को प्राय: स्वाभाविक ही मान लिया जाता है और उसमें प्रेम का वह चरम भाव नहीं रहता, जैसा कि प्रेमी-प्रेमिका के बीच होता है। ईश्वर के प्रति भक्त

के प्रेम की अधिकतम तीव्रता के एक उदाहरण के रूप में ही ऐसा सम्बन्ध चित्रित किया गया है।

लोग इस तरह के चिन्तन और विचार को अनैतिक मान सकते हैं, पर ऐसा इसलिये है कि वे इसके बारे में दैहिक सुख के स्तर पर सोचते हैं। इसे उस ढंग से नहीं सोचा जाना चाहिये। इसे दृष्टान्त के रूप में समझा जाना चाहिये। दो प्रेमियों के बीच विद्यमान प्रेम-भावना की प्रचण्ड तीव्रता को किसी अन्य उदाहरण द्वारा नहीं समझाया जा सकता। ईश्वर तथा भक्त के बीच प्रेम की ऐसी ही तीव्रता होनी चाहिये, जिसकी बराबरी किसी अन्य सम्बन्ध में नहीं होती। भक्ति-मार्ग के अनुसार यह वह सर्वोच्च प्रकार का भाव है, जिसकी धारणा करना सम्भव है।

इत्येवं वदन्ति जनजल्पनिर्भयाः एकमताः कुमार-व्यास-शुक-शाण्डिल्य-गर्ग-विष्णु-कौण्डिन्य-शेषोद्धवारुणि-बलि-हनुमद्-विभीषणादयो भक्त्याचार्याः ।।८३।।

अन्वयार्थ – **इति-एवं-वदन्ति** – ऐसा कहते हैं, **जन जल्प निर्भयाः** – लोग क्या कहते हैं, इसकी परवाह न करके, निर्भय होकर, **एकमताः** – एकमत होकर, **कुमार आदयः** – नारद, व्यास, शुक, शाण्डिल्य, गर्ग, विष्णु, कौण्डिन्य, शेष, उद्धव, आरुणी, बलि, हनुमान, विभीषण आदि, **भक्ति-आचार्याः** – भक्ति के आचार्यगण।

अर्थ – लोग क्या कहते हैं, इसकी जरा भी परवाह न करके नारद, व्यास, शुक, शाण्डिल्य, गर्ग, विष्णु, कौण्डिन्य, शेष, उद्धव, आरुणी, बलि, हनुमान, विभीषण आदि भक्ति के आचार्यगण एकमत होकर ऐसा ही कहते हैं।

अब नारद अपना निष्कर्ष बताते हुए कहते हैं कि नारद, व्यास, शुक, शाण्डिल्य, गर्ग, विष्णु, कौण्डिन्य, शेष, उद्धव, आरुणी, बलि, हनुमान, विभीषण आदि भक्ति के आचार्यों का एक स्वर से यही मत है। नारद कहते हैं कि वे भक्ति के महान् आचार्यों के अनुभव से भिन्न अपना कोई नया विचार नहीं दे रहे हैं। अत: वे भक्ति के अनेक ऐसे आचार्यों का उल्लेख कर रहे हैं, जिन्होंने अपने जीवन में भक्ति के विभिन्न पहलुओं को प्रदर्शित किया है। उन्होंने अपने जीवन में दिखाया है कि इस प्रकार की भक्ति को अपनाकर कैसे इन भावों को अर्जित किया जा सकता है।

भक्ति के ये महान् आचार्य इस बात की परवाह नहीं करते कि लोग क्या कहेंगे। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है। लोग ऐसे भावों की आलोचना कर सकते हैं – और करते भी हैं – पर भक्त को उन सबका कोई भय नहीं होगा। लोग क्या कहते हैं, इसकी वह कुछ परवाह नहीं करेगा। वह इस बात पर प्रबल विश्वास रखकर अपने मार्ग पर चलते जायेगा कि वह सही मार्ग पर है और वह मार्ग उसे सर्वोच्च लक्ष्य – ईश्वर तक ले जा रहा है या ले जा चुका है। अत: वे जनमत या लोग क्या कहते हैं, इसका कोई भय नहीं रखते।

परन्तु यदि किसी सच्चे आचार्य द्वारा कोई आलोचना की जाती है, तो भक्त को सोचना पड़ता है। उसे सावधान रहना पड़ता है। पर इस सन्दर्भ में भक्ति के सभी महान् आचार्य इस पथ की उपयोगिता के बारे में एकमत हैं और इस कारण लोग क्या कहते हैं, इससे निर्भय होकर वे शिक्षा देते हैं।

अन्य लोगों ने इस मार्ग की कड़ी आलोचना की है। यथा ज्ञान-मार्ग के अनुयाइयों को लीजिये। वे कहते हैं – "कोरी भावुकतापूर्ण इस भक्ति में डूबने से क्या मिलेगा? यह व्यक्ति को कहाँ ले जायेगी? यह कभी जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य – मुक्ति नहीं दे सकती है।" अत: वे भक्ति द्वारा अपनाये गये मार्ग की कड़ी आलोचना करते हैं, पर भक्त ऐसी आलोचना से विचलित नहीं होता। उदाहरणार्थ जब श्रीरामकृष्ण तालियाँ बजाकर भगवान का गुणगान करते थे, तो उनके ज्ञानमार्गी गुरु तोतापुरी ने उनकी इस प्रकार आलोचना की थी, "तुम इस प्रकार रोटियाँ क्यों ठोक रहे हो?" (भारत में कहीं-कहीं रोटियाँ बनाने के लिये गूँथे हुए आटे की लोई को हथेलियों के बीच रखकर उसे ठोक-ठोक कर चपटा बनाया जाता था।) तोतापुरी श्रीरामकृष्ण की हँसी उड़ा रहे थे। उन्हें कल्पना तक न थी कि इस भाव या क्रिया के द्वारा भी ईश्वर की अनुभूति हो सकती है। उनका इसमें जरा भी विश्वास नहीं था, अत: उन्होंने आलोचना की।

श्रीरामकृष्ण ने जब कहा – "मैं अपनी माँ से पूछ लूँ कि मुझे संन्यास लेना चाहिये या नहीं" और माँ-काली से पूछने मन्दिर में गये, तो तोतापुरी चकित होकर सोचने लगे – "यह क्या? यह युवक तो वेदान्त का अधिकारी प्रतीत होता है, पर यह ऐसा अन्धविश्वासी क्यों है? वह देवी से पूछने मन्दिर में जाता है? संन्यास से इसका क्या सम्बन्ध है?"

तात्पर्य यह कि 'ब्रह्मज्ञानी के मतानुसार देवी-देवताओं के सभी रूपों, सभी प्रतीकों, सभी मूर्तियों की कोई उपयोगिता नहीं है – वे निस्सार हैं अर्थात् वे एकमात्र परम सत्य ब्रह्म की तुलना में कुछ भी नहीं हैं। वे सभी अनित्य हैं। अत: तोतापुरी सोचते हैं कि रामकृष्ण मन्दिर में क्यों जा रहे हैं और अनित्य जगदम्बा की मूर्ति से अनुमति माँग रहे हैं?

इस प्रकार हम देखते हैं कि अन्य मार्गों के अनुयाइयों द्वारा इस भक्ति-भाव की कड़ी आलोचना की जा सकती है। परन्तु वह भक्त की दृढ़ता या विश्वास को विचलित नहीं कर पाता। वह अपने ही मार्ग पर चलता जाता है।

अब हम लोग नारद-भक्ति-सूत्रों पर अपने अध्ययन की लगभग समाप्ति पर आ पहुँचे हैं। मुझे आशा है कि इन सूत्रों

(शेष अगले पृष्ठ पर)

स्मृति-सौरभ

सोहराब मोदी

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

१९१८ ई. की बात है। उस समय मैं बहुत छोटा था। मेरे बड़े भाई श्रीरामकृष्ण के भक्त थे। सर्वप्रथम उन्हीं के मुख से मैंने श्रीरामकृष्ण की सहधर्मिणी माँ सारदादेवी के बारे में सुना था। मेरे बड़े भाई ने ही माँ का दर्शन करने के लिये मुझे मुम्बई से कोलकाता भेजा था। कोलकाता पहुँचकर बागबाजार में माँ का दर्शन करने गया। उस समय वे बड़ी बीमार थीं। सुना कि इसी कारण भक्तों का दर्शन बन्द है। स्वामी सारदानन्द को प्रणाम करके मैं बोला – "मुम्बई से माँ का दर्शन करने आया हूँ। मेरी माँ से दीक्षा पाने की इच्छा है।" मेरी कातरता देखकर उनमें करुणा उपजी। उन्होंने कहा कि मैं माँ से ही अपनी प्रार्थना निवेदित करूँ और एक संन्यासी के साथ मुझे उनका दर्शन करने भेज दिया। माँ को प्रणाम करके मैंने कातर भाव से उनसे दीक्षा के लिये प्रार्थना की। करुणावश उन्होंने तत्काल मुझे दीक्षा प्रदान किया।

यद्यपि वे मेरी भाषा नहीं जानती थीं और मैं भी बँगला नहीं जानता था, तथापि मैंने देखा कि उनकी बात समझने में मुझे कोई असुविधा नहीं हुई और उन्हें भी मेरी बात समझने में कोई असुविधा नहीं हुई। माँ बँगला में बोल रही थीं और मैं हिन्दी में। उनसे विदा लेते समय मैंने कहा – "माईजी, मैं जा रहा हूँ।" माँ ने बँगला में कहा – "बेटा, 'जाता हूँ', नहीं कहते, कहो 'आता हूँ'।" माँ के एक सेवक ने उनके कथन का अँग्रेजी में अनुवाद करके मुझे बताया – "Mother says, don't say 'I am going', say 'I am coming'."

सुनकर मैं अवाक् रह गया। मैं जा रहा हूँ और माँ कह रही हैं – कहो 'आता हूँ' ! तब मैं नहीं जानता था कि बँगला में विदा लेते समय ऐसा ही कहते हैं। जो भी हो, मैं मुम्बई लौट आया और अपने साथ एक मधुर स्मृति ले आया। मैंने महसूस किया कि वे स्नेह से परिपूर्ण हैं। ऐसा लगा था कि She was wonderful and beautiful. (वे अद्भुत और अत्यन्त सुन्दर हैं)।

उसके बाद कई साल बीत गये, अब मैं वृद्ध हो गया हूँ। जीवन की सुदीर्घ अवधि के दौरान मैं माँ की बातें प्राय: भूल ही गया था। अब मैं उस पार के पुकार की प्रतीक्षा कर रहा हूँ – ज्योंही वह पुकार आये जाने को तैयार हूँ। आज इस पृथ्वी पर मेरे लिये अन्य कोई आकर्षण नहीं है। इतने दिनों तक भूले रहने के बाद आज केवल मुझे माँ की ही याद आ रही है। उनकी वह अपूर्व अन्तिम बात मेरे कानों में गूँज रही है – "बेटा, 'जाता हूँ', नहीं कहते, कहो 'आता हूँ'।" अब मैं समझ गया हूँ – उस समय मुझे जो दुर्बोध्य लग रहा था – मैंने उनके पास से 'चले जाना' चाहा था, पर अन्तत: मैं 'जा' नहीं सका। हममें से कोई नहीं जा सकता। हमें माँ के पास लौटना ही होगा। मेरे जीवन का यह अन्तिम अनुभव है – मैं माँ के पास लौट आया हूँ – I am coming to my mother.*

* विख्यात चलचित्र अभिनेता और निर्देशक सोहराब मोदी (१८९७-१९८६) का अँग्रेजी में लिखा हुआ यह विवरण स्वामी निरामयानन्द को प्राप्त हुआ। उसी विवरण का अनुवाद प्रस्तुत किया गया है।

पिछले पृष्ठ का शेषांश

पर कहे गये मेरे विचारों ने आपके लिये कुछ करने और चलने के लिये एक मार्ग की जानकारी दी है। मैं यह नहीं कहता कि यही एकमात्र मार्ग है, परन्तु मार्ग चाहे जितने भी हों, यह ईश्वर तक पहुँचने का एक अति महत्त्वपूर्ण मार्ग है।

नारद विशेष रूप से कहते हैं कि वे ऐसी कोई शिक्षा नहीं दे रहे हैं जो अन्य आचार्यों द्वारा समर्थित न हो। वे अपने मत के साथ ही उसके समर्थन में विनम्रतापूर्वक अन्य अधिकारी आचार्यों के उद्धरण भी देते हैं। अत: वे कहते हैं, – "लोग क्या कहते हैं, इसकी जरा भी परवाह किये बिना भक्ति के आचार्य ऐसा ही कहते हैं" और वे इन आचार्यों का नामोल्लेख भी करते हैं। यह सूची लम्बी है। कुमार, व्यास, शुक, शाण्डिल्य, गर्ग, विष्णु, कौण्डिन्य, शेष, उद्धव, आरुणी, बलि, हनुमान, विभीषण आदि। तात्पर्य यह है कि परम सत्य के विषय में कोई भी उनके कर्तृत्व या मूल स्रोत होने का दावा नहीं कर सकता। परम सत्य शाश्वत है और शताब्दियों तथा सहस्राब्दियों से अनेकानेक आचार्यगण अपने-अपने ढंग से उसी परम सत्य की शिक्षा देते रहे हैं।

❖ (क्रमश:) ❖

अहं और आत्मविश्वास

स्वामी आत्मानन्द

कहा जाता है कि हमें आस्थावान बनना चाहिए, पर प्रश्न उठता है – आस्था किसके प्रति? अपने प्रति या ईश्वर के प्रति? आस्थाहीनता को नास्तिकता भी कहते हैं। स्वामी विवेकानन्द नास्तिकता को एक नयी व्याख्या देते हैं, ''पुराने धर्मों ने कहा कि वह नास्तिक है, जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता। नया धर्म कहता है कि वह नास्तिक है, जो अपने आप में विश्वास नहीं करता।'' इस प्रकार स्वामीजी आत्मविश्वास की वकालत करते हैं। उनका तर्क यह है कि जो व्यक्ति अपने में विश्वास नहीं कर सकता, वह ईश्वर में क्या विश्वास करेगा? ईश्वर में आस्था रखने के पूर्व शर्त है अपने में, अपनी शक्ति में आस्था रखना।

पर आत्मविश्वास को अहंकार का पर्याय नहीं मान लेना चाहिए। दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है। अहंकार में दम्भ होता है, जिसका आत्मविश्वास में एकदम अभाव होता है। अहंकारी व्यक्ति को आत्मविश्वासी नहीं कह सकते, क्योंकि तनिक-सी चोट से अहंकारी अपने सन्तुलन को खो बैठता है और विश्वासहीनता का शिकार हो जाता है। आत्मविश्वासी विपरीत परिस्थितियों में भी अपना धैर्य और सन्तुलन नहीं खोता। गीता में इन दो प्रकार के व्यक्तियों का चित्रण किया गया है। आत्मविश्वासी के लिए कहा है –

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

– वह अपने द्वारा अपने आपका उद्धार करता है, स्वयं के द्वारा अपने आपको अधोगति में नहीं ले जाता, क्योंकि वह जानता है कि व्यक्ति अपने स्वयं का मित्र भी है और शत्रु भी। प्रश्न उठता है कि वह अपना मित्र और शत्रु दोनों कैसे हो सकता है? इसका उत्तर देते हुए गीता कहती है –

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥

– जब वह अपने पुरुषार्थ से अपने शरीर, मन तथा इन्द्रियों को जीत लेता है, तब वह अपने आपका मित्र है, पर जब वह इस प्रकार तन, मन और इन्द्रियों को अपने अधीन नहीं कर पाता, तब स्वयं ही स्वयं का शत्रु बन जाता है।

अभी कहे गये दो श्लोकों में आत्मविश्वास की महिमा ही कही गयी है। अहंकारी व्यक्ति इस महिमा का अधिकारी नहीं होता। उसका चित्रण करते हुए गीता कहती है –

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी।
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥

– ये अहंकारी ऐसा सोचते हैं कि मैंने आज यह पाया, अब इस मनोरथ को पूरा करूँगा, अभी मेरे पास इतना धन है, भविष्य में और भी इतना हो जाएगा। उस शत्रु को मैंने मारकर मजा चखा दिया, अब दूसरे शत्रुओं को भी देख लूँगा। मुझे छोड़ इस धरती पर और दूसरा कौन ईश्वर है? मैं सारे ऐश्वर्यों का भोग करने के लिए पैदा हुआ हूँ, मैं सब सिद्धियों का स्वामी हूँ, मैं बलवान् और सुखी हूँ। मैं समृद्ध और जनबल से युक्त हूँ। मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा, मौज करूँगा, मेरे समान दूसरा भला और कौन है – इस प्रकार के अज्ञान से ये अहंकारी लोग मोहित रहते हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि अहंकार व्यक्ति को सत्य से दूर ले जाता है, जबकि आत्मविश्वास के द्वारा वह सत्य के अधिकाधिक समीप पहुँचता जाता है। स्वामी विवेकानन्द इस आत्मविश्वास को महानता का रहस्य मानते हैं और कहते हैं – ''विश्वास, विश्वास, अपने आप में विश्वास करो। यदि तुम पुराण के तैंतीस करोड़ देवताओं और विदेशियों द्वारा बतलाये हुए सभी देवताओं में भी विश्वास करते हो, पर यदि अपने आप में विश्वास नहीं करते, तो तुम्हारी मुक्ति नहीं हो सकती।'' एक दूसरे स्थान पर वे कहते हैं – ''अपने आप में विश्वास रखने का आदर्श ही हमारा सबसे बड़ा सहायक है। सभी क्षेत्रों में यदि अपने आप में विश्वास करना हमें सिखाया जाता और उसका अभ्यास कराया जाता, तो मुझे निश्चय है कि हमारी बुराइयों तथा दुःखों का बहुत बड़ा भाग आज तक मिट गया होता।''

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि विश्व का इतिहास उन इने-गिने लोगों ने बनाया है, जिनका अपने आप में, अपनी क्षमता में दृढ़ विश्वास था। वे यह मानते थे कि वे महान् होने के लिए ही पैदा हुए हैं और इसीलिए महान् बने। ❑ ❑ ❑

एक स्वस्थ जीवन-दर्शन : मनुष्य की परम आवश्यकता (२)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रतिवर्ष की भाँति २००६ ई. में भी रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने सन्त गजानन अभियांत्रिकी महाविद्यालय, शेगाँव (महा.) के अनुरोध पर विद्यार्थियों के लिये 'व्यक्तित्व विकास एवं चरित्र-निर्माण' पर कार्यशाला का संचालन किया था। उनके उस महत्वपूर्ण व्याख्यान को हम 'एक स्वस्थ जीवन-दर्शन : मनुष्य की परम आवश्यकता' शीर्षक से प्रकाशित कर रहे हैं। इसका हिन्दी अनुवाद रायपुर आश्रम के ही ब्रह्मचारी जगदीश और इसका सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है। – सं.)

ज्ञान का यह अपरोक्ष अनुभव हमें एक ऐसी अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है जिससे हमारी अन्य सभी विषयों की समझ एवं जानकारी की ठीक व्याख्या हो जाती है, किन्तु वह स्वयं अपनी व्याख्या के लिए किसी सिद्धान्त की अपेक्षा नहीं रखता क्योंकि ऐसा ज्ञान स्वानुभूत है, स्वव्याख्य है। उपनिषदों की अनुसंधान विधि पर विचार करते हुए डॉ. राधाकृष्णन कहते हैं – "वह (दर्शनशास्त्र) विश्व ब्रह्माण्ड की तार्किक व्याख्या के अन्वेषण का प्रयास करता है – ऐसी व्याख्या जो सभी अंगों यथा प्रकृति, ईश्वर एवं मनुष्य को उनका यथोचित महत्त्व प्रदान करे, जो सभी वस्तुओं को उनके सही परिप्रेक्ष्य में देखे तथा अनुभव में आने वाले समस्त प्रतिवादों का खण्डन करे। दर्शनशास्त्र को एक ऐसे सर्वग्राही एवं सार्वभौमिक सिद्धान्त का अन्वेषण करना होता है, जिसे स्वयं तो किसी व्याख्या की आवश्यकता न हो, किन्तु वह अन्य सभी घटनाओं की व्याख्या करता हो। उसे परम ज्ञान ही होना चाहिए, जिसमें समस्त घटनाओं का समावेश किया जा सकता है, लेकिन जो स्वयं किसी भी घटना में संलग्न न हो।"[५]

भारत में दर्शनशास्त्र एक बौद्धिक धारणा अथवा तार्किक व्याख्या मात्र नहीं है, अपितु वह एक आध्यात्मिक साधना है, जो इसके अध्येता को परमार्थ हेतु मार्गदर्शन प्रदान करता है। श्री टी. वी. आर. मूर्ति दर्शनशास्त्र के ध्येय के सम्बन्ध में लिखते हैं – "दर्शनशास्त्र कोई बौद्धिक जिज्ञासा अथवा सैद्धान्तिक व्याख्या नहीं है, अपितु एक सच्ची आध्यात्मिक साधना है, जिसका लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति है एवं यही भारतीय दर्शन का मौलिक स्वरूप है तथा इससे मैं पूर्णत: सहमत हूँ।[६]

हिन्दू विचार-परम्परा में अनुभव के पीछे विद्यमान सत्ता को 'तत्त्व' कहा गया है। इसीलिए भारत में दर्शन का एक नाम 'तत्त्व-ज्ञान' भी है। यह ज्ञान ही समस्त दर्शनों का अन्त एवं लक्ष्य है। इससे कम होने पर कोई भी विचार पद्धति दर्शन के रूप में स्वीकार्य नहीं है, फिर भले ही वह बौद्धिक स्तर पर कितना ही उच्च कोटि का चिन्तन प्रस्तुत करती हो। एक अन्य प्रख्यात विद्वान श्री वी. सुब्रह्मण्यम अय्यर, दर्शनशास्त्र के इस वैशिष्ट्य को स्पष्ट करते हुए ठीक ही कहते हैं –

"अन्तत: भारत में दर्शनशास्त्र का अध्येता उस ज्ञान का अन्वेषण करता है कि – 'जिस ज्ञान को प्राप्त कर लेने पर सब कुछ जाना हुआ हो जाता है।' अतएव दर्शनशास्त्र मात्र 'विज्ञानों का विज्ञान' एवं 'कलाओं की कला' ही नहीं अपितु, जैसा कि भारतीय दर्शनशास्त्र मानते हैं, वह 'ज्ञानों का ज्ञान' अथवा समस्त ज्ञान का परिपाक है। किन्तु इसे समस्त ज्ञान का परिपाक कहने का आशय जीवन की परिपूर्णता से भी है; क्योंकि तब व्यक्ति के लिए जीवन में शेष कुछ भी अज्ञात एवं अप्राप्त नहीं रह जाता।"[७]

महान् तत्त्वदर्शी स्वामी विवेकानन्द ने भारतीय दर्शनशास्त्र की आत्मा एवं लक्ष्य को कुछ शब्दों में सार रूप से इस प्रकार व्यक्त किया है – "भारत में दर्शन का अर्थ है, वह शास्त्र या विद्या जिसके द्वारा हम ईश्वर का साक्षात्कार कर सकते हैं। दर्शन धर्म की युक्तिसंगत व्याख्या है।"[८]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि दर्शनशास्त्र वह विज्ञान है, जो जीवन एवं ब्रह्माण्ड का रहस्योद्घाटन करता है एवं उनकी व्याख्या प्रस्तुत करता है तथा मनुष्य को अभी और यहीं, शाश्वत परिपूर्णता प्रदान करता है।

दर्शनशास्त्र का कार्यक्षेत्र

मनुष्य का जीवन एक तथ्य है, इसका तात्पर्य जो भी हो। मानवीय अनुभव एवं ज्ञान का समस्त विस्तार दर्शनशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। क्योंकि दर्शनशास्त्र जीवन को खण्डश: ग्रहण न कर उसको सम्पूर्ण रूप से ग्रहण करता है। दर्शनशास्त्र की इस विशेषता की व्याख्या करते हुए श्री डब्ल्यू. टी. स्टेस कहते हैं – "दर्शनशास्त्र, ज्ञान की अन्य शाखाओं से इस अर्थ में भिन्न है कि ज्ञान की अन्य शाखाएँ ब्रह्माण्ड के कुछ विशेष अंशों के अध्ययन तक सीमित रहती हैं, जबकि दर्शनशास्त्र यह विधि न अपना कर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को ही अपने अध्ययन का विषय बनाता है।"[९]

दर्शनशास्त्र की यह वैश्विक पहल अपने अन्वेषण क्षेत्र का विस्तार, मानवीय ज्ञान की समस्त शाखाओं की चरम सीमा तक एवं उससे भी अधिक बढ़कर आगे तक करती है। जबकि ज्ञान की अन्य शाखाएँ अपने चुने हुए क्षेत्रों के अध्ययन में ही आबद्ध होती हैं तथा अपने अध्ययन एवं अन्वेषण हेतु कुछ तथ्यों को यथारूप स्वीकार कर लेती हैं। वहीं दर्शनशास्त्र स्वयं को किसी विशेष ज्ञान की सीमाक्षेत्र में आबद्ध न कर, मानवीय अन्वेषण, अनुभव एवं अध्ययन की

समस्त शाखाओं से उपलब्ध ज्ञान को आधार बनाकर किसी एक सिद्धान्त की सम्भावना हेतु प्रयत्न करता है। श्रीमान् स्टेस पुन: कहते हैं – "सभी तरह के विज्ञान कुछ सिद्धान्तों एवं तथ्यों को अन्तिम रूप से स्वीकार कर लेते हैं। उन्हीं का अन्वेषण दार्शनिक का कार्यक्षेत्र है तथा दर्शनशास्त्र ज्ञान के सूत्र को वहाँ से पकड़ता है, जहाँ विज्ञान उसे छोड़ देते हैं। दर्शनशास्त्र वहाँ से प्रारम्भ करता है जहाँ अन्य विज्ञान अपना अन्वेषण समाप्त करते हैं।"[१०]

इस प्रकार हम देखते हैं कि दर्शनशास्त्र का कार्य-क्षेत्र सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के साथ-ही-साथ समस्त मानवीय अनुभवों – दैहिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक है।

जब मानव-शिशु में चेतना का जागरण होता है, तब वह अपने अस्तित्व के विषय में सचेत हो उठता है। इस आत्मबोध के साथ ही शिशु बाह्य जगत के अस्तित्व का बोध अपने परिवेश के रूप में करता है। जब यह बोध अपने विकास-क्रम में चिन्तन-मनन के स्तर पर पहुँचता है, तब मनुष्य स्वयं की एवं जिस विश्व में वह रहता है उसकी प्रकृति के सम्बन्ध में विचार करना प्रारम्भ करता है। यह चिन्तन-मनन अनेक प्रश्न प्रस्तुत करता है, जैसे — मैं कौन हूँ? मेरे चारों ओर यह विश्व क्या है? मैं कहाँ से आया हूँ? इस विश्व की सृष्टि किसने की? इस तरह प्रश्नों की एक श्रृंखला है। जब हम इन प्रश्नों की परीक्षा एवं इनका विश्लेषण करते हैं, तब हम पाते हैं कि दर्शनशास्त्र के मौलिक प्रश्न हैं – मनुष्य, ब्रह्माण्ड, स्रष्टा अथवा ईश्वर। इस प्रकार हम देखते हैं कि चेतन एवं अचेतन, समस्त अस्तित्व ही दर्शनशास्त्र के अन्वेषण का क्षेत्र है। परम सत्य के अन्वेषण एवं अनुसंधान हेतु दर्शनशास्त्र मानवीय अनुभव एवं ज्ञान की सभी शाखाओं से सहायता ग्रहण करता है। दर्शनशास्त्र के कार्य करने की यह शैली उसे मानवीय अनुभव के समस्त पक्षों को स्पर्श करने एवं उनकी व्याख्या करने का अवसर प्रदान करती है तथा इस प्रकार दर्शनशास्त्र जीवन को प्रभावित एवं आकार प्रदान करता है।

दर्शनशास्त्र का कार्य

दर्शनशास्त्र का कार्य है कि वह मानव द्वारा मानव जीवन एवं ब्रह्माण्ड की महानतम समस्याओं के लिए उपलब्ध समस्त समाधानों को एकीकृत रूप में हमें प्रदान करे। मानवीय अनुभव एवं ज्ञान का आद्योपान्त अध्ययन कर दर्शनशास्त्र अनेकात्मक अस्तित्व में विद्यमान एकमात्र सत्य की खोज में प्रवृत्त होता है। जब तक कि जीवन एवं ब्रह्माण्ड के पार्श्व में विद्यमान सत्ता की खोज एवं उसका परिचय प्राप्त नहीं कर लिया जाता है, तब तक जीवन निरर्थक एवं यह संसार उद्देश्यहीन है। दर्शनशास्त्र का कार्य है कि वह मानवीय ज्ञान की विभिन्न शाखाओं के माध्यम से सत्य की खोज करे। दर्शनशास्त्र के इस कार्य की व्याख्या करते हुए डॉ. एस. राधाकृष्णन् कहते हैं, "यह दर्शनशास्त्र का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह अन्य विज्ञानों का सीमांकन कर उनके द्वारा प्रदत्त निष्कर्षों का समाधान प्रस्तुत करे। चूँकि मानवीय मस्तिष्क से नि:सृत चरम प्रश्नों जैसे 'कहाँ से?' 'किसलिए?' 'किधर को?', आदि पर विज्ञान विचार नहीं करता है, अत: बहुधा यह कहा जाता है कि विज्ञान सत्य के मूल में न जाकर घटनाओं की सतही व्याख्या मात्र में ही सन्तुष्ट रहता है। अन्य विज्ञान अपने अन्वेषण कार्य हेतु कुछ धारणाओं को बिना किसी गहन परीक्षण के स्वीकार कर लेते हैं, जबकि दर्शनशास्त्र ऐसा नहीं कर सकता। भौतिक शास्त्र 'एक स्वतंत्र पदार्थ के अस्तित्व' को स्वीकार कर लेता है; ज्यामिति 'आकाश' को स्वीकार कर लेती है। यहाँ तक कि कुछ दार्शनिक विज्ञान यथा तर्कशास्त्र एवं नीतिशास्त्र 'सत्य' एवं 'भलाई' के आदर्शों की धारणा को स्वीकार कर लेते हैं। दर्शनशास्त्र का यह कार्य है कि वह इस बात का अन्वेषण करे कि अन्य विज्ञानों द्वारा स्वीकृत सीमाओं का औचित्य कब तक स्वीकार्य है। दर्शनशास्त्र यह प्रश्न करता है, 'एक स्वतंत्र पदार्थ' एवं 'आकाश' सत्य हैं अथवा सैद्धान्तिक? विज्ञान की अभिधारणाएँ दर्शनशास्त्र के लिए विचारणीय प्रश्न बन जाती हैं। दर्शनशास्त्र को प्रत्येक विज्ञान द्वारा स्वीकृत सीमा को आवश्यकता अनुरूप तार्किक सुरक्षा प्रदान करनी चाहिए।"[११]

विश्व में हम एक ऐसी अवस्था में हैं, जहाँ हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम ब्रह्माण्ड की प्रकृति, जीवन के अर्थ, मानव-जाति की नियति, नैतिक मूल्यों के महत्त्व एवं इस तरह के अन्य अनेक प्रश्नों पर विचार करें। यह मानव-मन का स्वभाव है कि उसे वस्तुओं के सतही ज्ञान से दीर्घ अवधि तक सन्तुष्ट नहीं रखा जा सकता है। यह मानवीय बुद्धि का नियम ही है कि वह वस्तुओं में निहित सत्य की खोज करती है तथा मनुष्य को सत्य की प्रेरणा के अनुरूप जीवन जीने की प्रेरणा प्रदान करती है। दर्शनशास्त्र इस उद्देश्य की सिद्धि में मनुष्य का सहायक है।

❖ (क्रमशः) ❖

सन्दर्भ-सूची

५. द रेन ऑफ रिलीजन इन कानटेम्परारी फिलॉसफी, बाय डॉ. राधाकृष्णन, मैकमिलन एण्ड कम्पनी, लन्दन १९२०, पेज-४१५
६. कॉनटेम्परारी इण्यिन फिलासफी, एडिटेड बाय एस. राधाकृष्णन एण्ड जे.एच. मुइरहैड, पब्लिशर – जार्ज एलेन एण्ड अनविन, लन्दन, पेज ४५७
७. वही, पेज-५९७ **८.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड-७, पृष्ठ ६१, सप्तम पुनर्मुद्रण जुलाई-२००४
९. ए क्रिटीकल हिस्टरी आफ ग्रीक फिलासफी, बाय डब्ल्यू. टी. स्टेस, रिप्रिंट १९७२, पब्लिशर – मैकमिलन, सेंट मार्टिन्स प्रेस, पेज-२
१०. वही, पेज-३ **११.** सन्दर्भ क्रमांक ५, पेज-३

अमेरिका से पत्र तथा फोनोग्राफ

स्वामी विदेहात्मानन्द

(१८९१ ई. में स्वामी विवेकानन्द ने उत्तरी-पश्चिमी भारत का भ्रमण करते हुए राजस्थान में भी काफी काल बिताया था। तब वे वहाँ के अनेक लोगों – विशेषकर खेतड़ी-नरेश अजीत सिंह के घनिष्ठ सम्पर्क में आये। तदुपरान्त वे कन्याकुमारी तथा मद्रास होकर पुन: खेतड़ी आये। मुंशी जगमोहन लाल ने उनके साथ मुम्बई जाकर उन्हें अमेरिका के लिये विदा किया। यात्रा के दौरान उन्होंने राजा को कई पत्र लिखे। उनके पूरे जीवन व कार्य में राजपुताना तथा खेतड़ी-नरेश का क्या स्थान रहा – क्रमश: इन सभी विषयों पर सविस्तार चर्चा होगी। – सं.)

स्वामीजी के पत्रों में महाराजा का उल्लेख

खेतड़ी-नरेश अजीतसिंह के साथ स्वामीजी का काफी पत्र-व्यवहार हुआ करता था, परन्तु दुर्भाग्यवश उनमें से अधिकांश खो चुके हैं; तथापि अन्य लोगों को लिखे अपने पत्रों में स्वामीजी ने यत्र-तत्र खेतड़ी तथा महाराजा का उल्लेख किया है, जिनसे अमेरिका प्रवास के दौरान उनके खेतड़ी के साथ सम्बन्ध पर कुछ प्रकाश पड़ता है। प्रस्तुत हैं ऐसे ही कुछ अंश –

२ नवम्बर १८९३ को शिकागो से आलासिंगा के नाम पत्र में – "इस पत्र को प्रकाशित मत करना। पढ़ने के बाद इसे (खेतड़ी के) महाराजा को भेज देना। मैंने उन्हें अमेरिका में लिया गया अपना चित्र भेजा है।"

३० मार्च, १८९४ को डिट्राएट से कु. मेरी हेल के नाम पत्र में – "खेतड़ी से पत्र पाकर मैं बहुत खुश हूँ, जिसे मैं तुम्हें पढ़ने के लिये भेज रहा हूँ। इस पत्र से तुम्हें मालूम होगा कि वे समाचार-पत्रों की कुछ कतरने चाहते हैं। डिट्रॉएट के पत्रों की कतरनों के अतिरिक्त मेरी समझ में मेरे पास और कुछ नहीं है। इन्हें मैं उनके पास भेज दूँगा। अगर तुम्हें किन्हीं अन्य पत्रों से कुछ मिल सके, तो उनमें से कुछ उनको कृपया भेज देना, अगर आसानी से सम्भव हो तो। तुम उनका पता जानती हो – महाराजा, खेतड़ी, राजपूताना, भारत। हाँ, तो यह पत्र केवल तुम्हारे पवित्र परिवार के पढ़ने के लिये है।"

२८ मई १८९४ को शिकागो से आलासिंगा के नाम – "फोटोग्राफों के बारे में मुझे यही कहना है कि इस समय मेरे पास एक भी नहीं है – कुछ एक भेजने के लिए आर्डर दे दूँगा। महाराज खेतड़ी को मैंने कुछ भेजे थे और उन्होंने उनमें से कुछ छपवाये भी थे; इस बीच में तुम उन्हें उनमें से कुछ भेजने के लिए लिख सकते हो।"

११ जुलाई १८९४ को आलासिंगा के नाम – "खेतड़ी महाराजा साहब के साथ सर्वदा पत्र-व्यवहार बनाये रखना।"

२९ सितम्बर १८९४, उन्हीं के नाम – "ऐसी व्यवस्था करना कि खेतड़ी के राजा और लिमड़ी, काठियावाड़ के ठाकोर साहब को सदा मेरे कार्य की सूचना मिलती रहे।"

११ अप्रैल १८९५ को श्रीमती ओली बुल के नाम – "इस पत्र के साथ खेतड़ी के महाराजा का पत्र तथा वह कागज भेज रहा हूँ, जिसमें कि कुष्ठरोग के लिये 'गर्जन' तेल का विस्तृत विवरण है।"

१६ मई १८९५ को श्रीमती जार्ज डब्ल्यू हेल के नाम – "पुस्तकें सुरक्षित पहुँच गयी हैं, और भी आ रही हैं। संस्कृत ग्रन्थ क्लैसिक हैं, अत: उन पर चुंगी नहीं लगती। खेतड़ी से एक बड़े पैकेट की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। पिछला बड़ा पैकेट खेतड़ी के राजा द्वारा भेजा हुआ था, जिसमें उन्होंने माउंट आबू में मेरे इस देश (अमेरिका) में कार्य के सन्दर्भ में आयोजित राजपुताना के राजाओं की एक सभा में प्रदत्त भाषण भेजा है। अब मेरे पढ़ने योग्य भारत से आयी हुई अनेक पुस्तकें हो गयी हैं और इस गरमी के मौसम में मैं काफी व्यस्त रहूँगा। खेतड़ी का पैकेट बहुत जल्दी नहीं आयेगा, इसलिये ऐसी व्यवस्था करें कि यदि आप कहीं बाहर जा रही हों, तो वह आपकी अनुपस्थिति में भी प्राप्त किया जा सके। मुझे आशंका है कि उस पर काफी चुंगी चुकानी होगी। ... शीघ्र ही पुस्तकों के एक बड़े पैकेट के आने की भी सम्भावना है। उसमें मूल उपनिषदें हैं – उन पर कोई चुंगी नहीं लगेगी।"[१]

१८९५ – ब्रह्मानन्दजी को – "इस देश में एक बीज बोया गया है, सहसा चले आने पर उसका अंकुर नष्ट हो जाने की सम्भावना है, इसीलिये (भारत लौटने में) थोड़ा विलम्ब होगा। खेतड़ी के राजा, जूनागढ़ के दीवान आदि सभी देश लौटने को लिखते रहते हैं।"

२६ जून १८९५ – न्यूयार्क से मेरी हेल को – "दवाओं के पहुँचने की बात जानकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई है। क्या उसके लिये कुछ चुंगी देनी पड़ी? यदि वैसा हुआ, तो मैं उसे

१. The Complete Works of Swami Vivekananda, Vol. IX, Ed. 1998, P.58-59 (Hereafter – The Complete Works)

चुकाऊँगा, ऐसा मेरा आग्रह है। खेतड़ी के राजा के यहाँ से कुछ शाल (दुशाले), जरीदार कपड़े और छोटे-मोटे सामानों का एक बड़ा पैकेट आयेगा। मैं विभिन्न मित्रों को उन्हें उपहार -स्वरूप देना चाहता हूँ। किन्तु मैं निश्चिन्त रूप से जानता हूँ कि उसके आने में कुछ महीने लग जायेंगे।'' (४/२९६)

२ जुलाई १८९५ को न्यूयार्क से श्रीमती जार्ज डब्ल्यू हेल के नाम – ''महाराजा अजीतसिंह (खेतड़ी-नरेश) के यहाँ से एक और बंडल आने वाला है, जिसमें गलीचे, शाल आदि होंगे और जिसका 'बिल ऑफ लैंडिग' आपने कुछ दिनों पूर्व मुझे भेजा है। उस बंडल पर कोई चुंगी देने की आवश्यकता न होगी, क्योंकि उसका भारत में ही अग्रिम रूप से भुगतान कर दिया गया है और 'बिल ऑफ लैंडिग' में इसका स्पष्ट रूप से उल्लेख है। मैं आपको 'बिल ऑफ लैंडिग' तथा चुंगी की रसीद भेज दूँगा। कृपया मेरे लिये इतना कष्ट और उठायें और उसे एक्सप्रेस कम्पनी से मँगवा लें। फिर मेरे आने तक उसे अपने पास रखें। मुझे सूचित किया गया है कि माल न्यूयार्क तक पहुँच चुका है और वह अब शिकागो के मार्ग में है।

''दो या तीन दिनों में मैं आपको 'बिल ऑफ लैंडिग' तथा चुंगी के भुगतान की रसीद भेज दूँगा। कम्पनी से सूचना मिलते ही मैंने अपने भोंदूपन के कारण कुमारी फिलिप्स से कहा कि 'बिल ऑफ लैंडिग' मिलने के पहले ही वे उसे छुड़ा लें। परन्तु अब 'बिल ऑफ लैंडिग' से पता चलता है कि इसे शिकागो के लिये बुक किया गया है। इसलिये मुझे आपको यह कष्ट देना पड़ रहा है। मुझे बड़ा खेद है। फिर अपने स्वाभाविक व्यावसायिक सहजबोध के चलते मैं उस एक्सप्रेस कम्पनी का नाम लिखकर रखना भूल गया। इसलिये मैंने कम्पनी के पत्रों के लिये न्यूयार्क को लिखा है। ज्योंही वह आयेगा, मैं उसे आपके पास भेज दूँगा।''[२]

३ जुलाई १८९५ – लगता है कि राजा (खेतड़ी नरेश) द्वारा भेजी हुई चीजें बहुत जल्दी पहुँच जाती हैं।'' अं.९/६३

३० जुलाई १८९५ को श्रीमती हेल के नाम – ''आपका पत्र तथा पैकेट सुरक्षित रूप से पहुँच गया है। ... हम (खेतड़ी के महाराजा के यहाँ से आनेवाले) पैकेट के बारे में सोचेंगे। आप शिकागो में कब तक हैं? यदि केवल लगभग एक सप्ताह, तो फिर मेरे आने की जरूरत नहीं। मैं आपसे न्यूयार्क में मिलूँगा।''[३]

१८९५ के अक्तूबर में, इंग्लैंड से स्वामी अभेदानन्द या रामकृष्णानन्द को – ''मैं खेतड़ी के महाराज को भी लिख रहा हूँ कि वे अपने मुम्बई के एजेंट को आदेश दें कि वे (इंग्लैंड के लिये जलयान पर) तुम्हारा टिकट आरक्षित कराने की व्यवस्था कर दे। ... तुम मुम्बई जा रहे हो – यह खेतड़ी के महाराजा को शीघ्र लिख दो और यह भी कि उनका एजेंट पैसेज (स्थान) आरक्षित करवाने तथा जहाज पर चढ़ा देने आदि में प्रस्तुत हो, तो प्रसन्नता होगी।''

१७ जनवरी १८९६ – न्यूयार्क से – मठ के गुरुभाइयों के नाम – ''शीघ्र पहुँचने की व्यवस्था किये बिना माल भेजने पर उसके आने में छह महीने लग जाते हैं। ... केवल खेतड़ी के महाराजा का माल शीघ्र पहुँचता है, लगता है कि वे बहुत खर्च करके भेजते हैं। जो भी हो, इस दुनिया के दूसरी ओर – पातालपुर में माल सुरक्षित पहुँच जाता है, यही परम भाग्य की बात है।''[४]

इस प्रकार हम देखते हैं कि खेतड़ी के राजा अजीतसिंह अमेरिका में अपने गुरुदेव स्वामी विवेकानन्द को तरह-तरह की चीजें भेजा करते थे, जिन्हें स्वामीजी अपने मित्रों, परिचितों तथा अनुरागियों के बीच वितरित किया करते थे।

स्वामी गम्भीरानन्द जी लिखते हैं – ''वे... अपनी क्षमता के अनुसार उन लोगों (अपने अमेरिकी मित्रों) को स्नेह के प्रतीक रूप में तरह तरह की चीजें देते रहते थे। किसी को कश्मीरी शाल, तो किसी को महँगा गलीचा, मलमल या रेशमी वस्त्र, या फिर किसी को पीतल की सुन्दर मूर्ति अथवा अन्य कलाकृति देकर अपने हृदय की प्रीति अथवा उपकारियों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते थे। ये सब चीजें वे जूनागढ़ के दीवानजी, मैसूर के महाराजा, खेतड़ी-नरेश आदि मित्रों की सहायता से भारत से मँगवाते थे। कभी कभी वे अमेरिका में बनी चीजें भी उपहार के रूप में दान करते। अपने शिष्यों के लिए वे भारत से कुश के आसन तथा रुद्राक्ष की मालाएँ भी मँगाया करते थे।''[५]

फोनोग्राम में अंकित सन्देश

यूनानी भाषा में 'फोनो' शब्द का अर्थ है 'ध्वनि' या आवाज और 'ग्राम' का शब्द है अंकन या रेकार्डिंग। 'फोनोग्राम' वह यंत्र है, जिसके द्वारा ध्वनि की रेकार्डिंग की जाती है। १८५७ ई. में लियन स्कॉट नामक वैज्ञानिक ने सर्वप्रथम एक ऐसे यंत्र का विकास किया और यह सिद्ध किया कि ध्वनि का अंकन सम्भव है। इसके करीब २० वर्ष बाद १८७६ ई. में सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक टॉमस अलवा एडीसन ने एक नये डिजाइन का यंत्र बनाकर ध्वनि-मुद्रण की कल्पना को व्यावहारिक रूप दिया। एडीसन ने ही इस यंत्र को 'फोनोग्राफ' का नाम दिया।

२. The Complete Works, Vol. IX, Ed. 1998, P. 62

३. Ibid., P. 65-66

४. पत्रावली (बंगला) स्वामी विवेकानन्द, सं. १९८७, पृ. ४२८

५. युगनायक विवेकानन्द, नागपुर, सं. २००५, खण्ड २, पृ. १५९

इस यंत्र में पीतल की एक बेलन थी, जिस पर सर्पिल रेखाएँ बनायी जाती थीं। बेलन से एक क्षैतिक पेंट लगा रहता था। लगभग २ इंच व्यासवाले पीतल के एक छोटे से बेलन के मुख पर पार्चमेंट की एक झिल्ली तानी जाती थी। झिल्ली के केन्द्र से एक इस्पात की सूई जुड़ी रहती थी, जिसकी नोक छेनीदार होती थी। सूई की नोक के पास एक कठोर कमानी लगाई जाती थी। कमानी का दूसरा सिरा पीतल के बेलन से जुड़ा होता था। अभिलेखी बड़े बेलन पर इस प्रकार रखा जाता था कि बेलन के घूमने पर सूई की पतली सर्पिल खाँच (ग्रूव) के बीच में चले। बेलन पर टिन की पन्नी की एक परत होती थी। जब छोटे बेलन में ध्वनि का प्रवेश कराकर झिल्ली को कम्पायमान किया जाता था, तब दोलनों के दबावों की विभिन्नता के कारण खाँच के तल में पन्नी पर चिह्नक द्वारा विभिन्न गहराइयों की खुदाई हो जाती थी। यह खुदाई ध्वनि-तरंगों के अनुरूप होती थी।

एडिसन द्वारा बनाया गया फोनोग्राम

इस ध्वनि को पुन: सुनने के लिये खाँच पर एक दूसरा चिह्नक रखा जाता था। यह चिह्नक बेलन पर खुदाई का अनुसरण करता हुआ क्रम से ऊपर या नीचे जाता था और इस प्रकार वह झिल्ली को, जिस प्रकार अंकन के समय कम्पित की गयी थी, उसी प्रकार कम्पित होने के लिये बाध्य करता था। झिल्ली के कम्पन वायु को कम्पित करता था और इस प्रकार पहले अंकित ध्वनि को पुन: सुना जा सकता था। आगे चलकर इस यंत्र में बहुत-से सुधार हुए। एडिसन ने टिन की जगह पर मोम के बेलनवाले फोनोग्राफ प्रस्तुत किये और १८९६ ई. में बेलन को हाथ से चलाने की जगह पर घड़ी में चाभी भरने के समान स्प्रिंग का उपयोग किया।[६]

रेकार्ड करने का सिलिंडर या बेलन

तथापि 'ध्वनि-अंकन-यंत्र' का क्रमश: विकास – उसमें उत्तरोत्तर सुधार हो रहा था, और लोगों के मन में उसके विषय में बड़ी उत्सुकता थी।

स्वामीजी की ध्वनि को ऐसे यंत्रों में कई बार रेकार्ड किया गया था। पहली बार तो जब १८९२ ई. में वे मैसूर गये, तो वहाँ के महाराजा ने उनकी स्मृति-चिह्न के रूप में उनकी आवाज को रेकार्ड करवाया। उन दिनों उसी प्रकार के एक बेलन (सिलिंडर) पर करीब ढाई मिनट की रेकार्डिंग ही हो पाती थी। कहते हैं कि मैसूर महाराजा के लिये स्वामीजी ने अपना एक प्रिय भजन – "मन चलो निज निकेतने" को गाकर अंकन कराया था। परन्तु उस काल के यंत्र अत्यन्त प्राथमिक अवस्था में थे और उन पर की गयी रेकार्डिंग को दीर्घ काल तक सुरक्षित रख पाना सम्भव न था।[७]
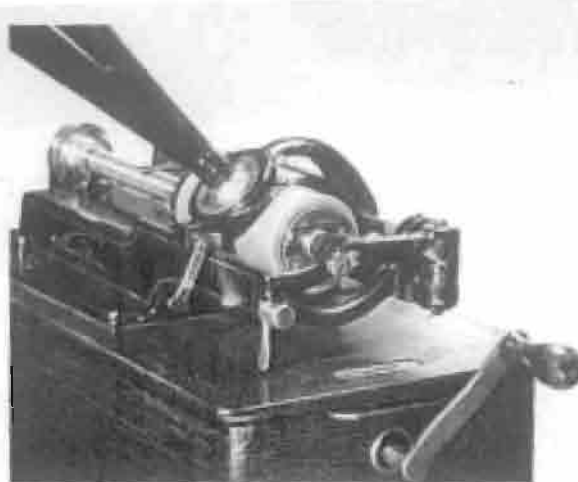
लगता है कि स्वामीजी के अमेरिका पहुँचते ही उनके मद्रास के मित्र विशेषकर मन्मथनाथ भट्टाचार्य ने अमेरिका में उनसे फोनोग्राफ के बारे में पता लगाने तथा भेजने के लिये अनुरोध किया था। क्योंकि अमेरिका में पदार्पण के कुछ तीन सप्ताह बाद ही (२० अगस्त १८९३ को) स्वामीजी ने ब्रीजी मेडोज से आलासिंगा पेरूमल को लिखा था – "मैं भट्टाचार्य महाशय के लिए फोनोग्राफ देखने न जा सका, क्योंकि मुझे उनका पत्र यहाँ आने पर मिला। यदि फिर से शिकागो जाऊँ तो उसके लिए कोशिश करूँगा।" इसके लगभग ५ महीने बाद २४ जनवरी १८९४ को स्वामीजी ने पुन: अपने मद्रास के शिष्यों को लिखा था – "कृपया श्री भट्टाचार्य को बता देना कि मैं उनके फोनोग्राफ की बात भूला नहीं हूँ। परन्तु एडीसन ने हाल ही में उसमें कुछ सुधार किया है और जब तक वह बाजार में नहीं आता, तब तक मैं उसे खरीदना उचित नहीं समझता।"[८] इसकी कोई जानकारी नहीं मिलती कि उन्होंने भट्टाचार्य के लिये फोनोग्राफ खरीदा या नहीं। सम्भव है कि उनके लिये फोनोग्राफ खरीदकर भेजते समय ही स्वामीजी के मन में यह विचार आया हो कि खेतड़ी-नरेश को भी उपहार के रूप में एक फोनोग्राफ पर एक छोटा-सा सन्देश रेकार्ड करके भेजा जाय।

यह रेकार्डिंग शिकागो के हेल परिवार की सहायता से

६. हिन्दी विश्वकोश, वाराणसी, सं. १९६४, खण्ड ४, पृ. ६४-५

७. कुछ जानकारी बैंगलोर के श्री एम.एस. नंजुंदैया से प्राप्त हुई।

८. पत्रावली (बंगला) स्वामी विवेकानन्द, सं. १९८७, पृ. १०३। वस्तुत: एडीसन ने स्प्रींग से चलनेवाला फोनोग्राफ प्रस्तुत किया, वह १८९६ ई. में ही बाजार में आ सका था। उसके पहले तक उसे हाथ से ही चलाकर रेकार्ड (अंकन) या श्रवण किया जाता था। (द्र. अंग्रेजी ग्रन्थ 'स्वामी विवेकानन्द इन द वेस्ट : न्यू डिस्कवरीज, मेरी लूई बर्क, खण्ड २, सं. १९८४, खण्ड २, पृ. २४४)

उन्हीं के घर में हुआ था। पत्रावली से पता चलता है कि करीब पूरे जून (१८९४) में वे शिकागो में थे और सम्भवत: जून में ही स्वामीजी ने खेतड़ी-नरेश के लिये फोनोग्राफ पर एक सन्देश रेकार्ड किया था। यही कारण है कि फोनोग्राफ के ४-५ महीनों तक भारत न पहुँचने पर उन्होंने शिकागो की श्रीमती हेल को ही अपनी चिन्ता से अवगत कराया था।

स्वामीजी के निम्नलिखित पत्रांशों से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सम्भवत: जून १८९४ के प्रारम्भ में रेकार्ड करके भेजा था और उसके बाद कई बार आलासिंगा आदि से उसकी प्राप्ति के बारे में पता लगाने को कहा। आखिरकार पता चला कि वह १८ नवम्बर के पूर्व ही खेतड़ी-नरेश को प्राप्त हो गया था। चूँकि शिकागो की हेल बहनों ने ही इसके रेकार्डिंग तथा रवानगी में सहायता की थी, इसलिये इसके विषय में स्वामीजी ने उनकी माता श्रीमती जार्ज डब्ल्यू हेल को लिखे कई पत्रों में ही इसके बारे में चर्चा की है।

२९ जून १८९४ को शिकागो से एक मद्रासी शिष्य के नाम – "मैंने तुमको फोनोग्राफ के बारे में लिखा था।"

११ अगस्त १८९४ को ग्रीनेकर से हेल बहनों के नाम पत्र में – "भारत से अभी तक मुझे फोनोग्राफ के पहुँचने की सूचना नहीं मिली है।"

रेकार्ड करने का सिलिंडर या बेलन और उसे रखने का डिब्बा

३१ अगस्त १८९४ को आलासिंगा के नाम – "खेतड़ी के राजा साहब को मैंने एक फोनोग्राफ भेजा है, परन्तु अभी तक उसके पहुँचने का समाचार मुझे नहीं मिला। उसका पता लगाना। कुक एण्ड सन्स, रामपार्ट रो, मुम्बई के पते पर मैंने उसे भेजा है। इस बारे में पूरी बात का पता लगाकर राजा साहब को एक पत्र लिखना। ८ जून को लिखा हुआ उनका एक पत्र मुझे मिला है। यदि उसके बाद उन्होंने कुछ लिखा हो, तो वह अभी तक मुझे नहीं मिला।"

५ सितम्बर १८९४ के दिन वे मन्मथनाथ भट्टाचार्य को लिखते हैं – "खेतड़ी के महाराजा को एक फोनोग्राफ भेजा गया और इन बच्चियों (हेल बहनों) ने उस पूरे कार्य को बड़े व्यवस्थित ढंग से सम्पन्न किया।"[९]

१३ सितम्बर १८९४ – को बॉस्टन से श्रीमती हेल के नाम – "अब तक फोनोग्राफ का कोई समाचार नहीं मिला है। और भी एक सप्ताह प्रतीक्षा कीजिये, उसके बाद हम लोग पूछताछ करेंगे। यदि आप खेतड़ी के टिकट वाला कोई पत्र देखें, तो उसमें अवश्य ही उसका समाचार होगा।"[१०]

९. The Complete Works, Vol. IX, P. 38; १०. Ibid., P. 40

२४ सितम्बर १८९४ – "मुझे आशंका है कि फोनोग्राफ भारत में पहुँचा ही नहीं है, या फिर इसके साथ कुछ घटना हुई है। कृपया श्री... से पूछताछ करने को कहें। जिस रसीद के साथ पूछताछ करनी है, वह आपके पास ही है।"[११]

३ नवम्बर १८९४ – (श्रीमती हेल को) – "इस फोनोग्राफ के मामले में मैं क्या कहूँ, कुछ समझ में नहीं आता। इसे भारत पहुँचने में छह महीने लगेंगे!! और कम्पनी भी अगले छह महीनों के भीतर पूछताछ भी नहीं कर सकती। यह है अमेरिकन एक्सप्रेस! धन्य! ठीक है, परन्तु वे मेरे खर्च की भरपाई करने को बाध्य हैं, अत: एक्सप्रेस कम्पनी के रसीद को खोइयेगा मत।"[१२]

१८ नवम्बर १८९४ – (श्रीमती हेल को) – न्यूयार्क, "मुझे फोनोग्राफ के बारे में समाचार मिला है। वह सुरक्षित पहुँच गया है और राजा साहब ने उसके विषय में मुझे एक बड़ा सुन्दर पत्र लिखा है।"[१३]

१९ नवम्बर १८९४ को न्यूयार्क से आलासिंगा आदि भक्तों को – "तुम्हें फोनोग्राफ के बारे में और पूछताछ करने की कोई जरूरत नहीं। अभी खेतड़ी से मुझे खबर मिली है कि वह अच्छी दशा में वहाँ पहुँच गया है।"

६ दिसम्बर १८९४ को श्रीमती हेल के नाम पत्र में – "मुझे भारत से इस सूचना के साथ एक पत्र मिला है कि फोनोग्राफ यथासमय प्राप्त हो गया था।"[१४]

२१ दिसम्बर १८९४ को श्रीमती हेल के नाम – "राजा साहब ने मुझे लिखा है कि फोनोग्राफ को पाकर वे बड़े आनन्दित हुए हैं और उन्होंने मेरी आवाज कई बार सुनी है। मैं आशा करता हूँ कि वे जीवन में परिणत करेंगे।"[१५]

इस फोनोग्राफ में स्वामीजी का राजा अजीतसिंह के नाम जो सन्देश अंकित हुआ था, उसके विषय में पं. झाबरमल शर्मा ने कुछ महत्त्वपूर्ण सूचना दी है। वे मुंशी जगमोहन लाल के मित्र थे और उन्होंने अपनी पुस्तकों के लिये स्वामी अखण्डानन्दजी से भी सामग्री संग्रह किया था। सम्भवत: इन्हीं से इस विषय में सूचना प्राप्त हुई थी। वे लिखते हैं – "स्वामी विवेकानन्दजी ने राजाजी को अमेरिका से एक फोनोग्राफ भेजा था। उसके एक रेकार्ड में उनके नाम स्वामीजी का हिन्दी भाषा में सन्देश था। उसे एक छोटा-सा व्याख्यान

११. Ibid., P. 42; १२. Ibid., P. 47;
१३. Ibid., P. 48 १४. Ibid., P. 49;
१५. Ibid., P. 50

ही समझना चाहिये। सन्देश का सारांश यह था कि अपनी प्रजा में बिना भेद-भाव के विद्या-प्रचार कीजिये, गाँव-गाँव में पाठशाला खोलिये, रोगियों की चिकित्सा के लिये औषधालय की व्यवस्था कीजिये। प्रजा की उन्नति ही आपकी उन्नति है। इसलिये प्रजाजनों को अपनी सन्तानवत् समझकर पालन कीजिये। जब इस सन्देश का रेकार्ड बजाया जाता था, तब ऐसा जान पड़ता था मानो स्वामीजी यहीं बोल रहे हैं।"[१६]

इस विषय में भगिनी निवेदिता ने भी लिखा है – "जब वे अमेरिका में खेतड़ी के महाराजा को भेजे जाने के लिये फोनोग्राफ पर एक सन्देश बोल रहे थे, तो ... 'नारियों तथा आम जनता की उन्नति' – सहज भाव से यही आवाज उनके होठों से निकली।"[१७]

कहते हैं कि महाराजा ने खेतड़ी के दरबार-हॉल में एक 'खास दरबार' का आयोजन किया, जिसमें नगर के सभी प्रमुख नागरिक आमंत्रित किये गये और पूरे समारोह के साथ फोनोग्राफ बजाया गया।[१८]

अखण्डानन्दजी : फिर खेतड़ी में

नाथद्वारा में कई माह बिताने के बाद अखण्डानन्द वहाँ से **ओंकारेश्वर, इन्दौर, उज्जैन, रतलाम** आदि स्थानों में कुछ काल बिताने के बाद चित्तौड़ होते हुए पुन: जयपुर आये और मुंशी जगमोहनलाल के साथ वापस खेतड़ी लौट आये। सम्भवत: तब तक १८९५ ई. का वर्ष प्रारम्भ हो चुका था। इस दौरान उनका खेतड़ी-नरेश अजीतसिंह के साथ निरन्तर पत्र-व्यवहार चलता रहता था। राजा अजीतसिंह द्वारा बीच-बीच में उनके उत्तर लिखे जाते थे। सम्भवत: मध्य भारत में ही कहीं प्रवास के दौरान उन्हें राजा का यह पत्र मिला –

आगरा, **२६ दिसम्बर, १८९४**

प्रिय स्वामीजी महाराज,

मुझे आपके बहुत-से पत्र मिले हैं, किन्तु खेद है कि मैं उत्तर नहीं दे सका। मैंने पं. लक्ष्मीनारायण को एक बार उत्तर देने के लिये आज्ञा भी दी थी। इसका कारण राजकीय कार्यों में व्यग्र रहना तथा आगरे से खेतड़ी और खेतड़ी से आगरे आना-जाना है। मैं फिर कल सायंकाल की गाड़ी से यहाँ से खेतड़ी जाऊँगा। आप शायद जानते होंगे, कर्नल ट्रेवर ए.जी.जी. ४ और ५ जनवरी को खेतड़ी का परिदर्शन करेंगे। इसके बाद फिर मुझे अपनी (ज्येष्ठ) पुत्री के विवाह की तैयारी के लिये बहुत कुछ करना पड़ेगा। विवाह जनवरी के अन्त में होनेवाला है।

मैं आशा करता हूँ कि पत्रों का उत्तर न दे सकने के लिये आप मुझे क्षमा करेंगे और पत्र देते रहेंगे। आप जानते हैं कि स्वामी विवेकानन्दजी के सभी गुरुभाइयों का मैं कितना महत्त्व मानता हूँ। इसलिये आप मेरी त्रुटियों पर ध्यान न देंगे। **मुझे श्री. स्वामीजी के दो-तीन पत्र मिले हैं,** किन्तु किसी में भी उन्होंने अपने लौटने के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा है। उन्होंने मुझे **एक फोनोग्राफ उपहार के रूप में भेजा है, जिसे शायद आप भी जानते हैं।**

अपने बहुत-से पत्रों में और विशेषकर अन्तिम पत्र में जो कई एक गम्भीर निर्देश आपने किये हैं, उनके लिये मैं आपको धन्यवाद देता हूँ।

आपका बहुत सच्चा –

अजीतसिंह[१९]

पुत्री के विवाह का प्रसंग

राजा अजीतसिंह की ज्येष्ठ पुत्री सूर्यकुमारी का विवाह शाहपुरा के राजकुमार उम्मेदसिंह के साथ १८९५ ई. में जनवरी के अन्त में सम्पन्न हुआ। इस विवाह के विषय में स्वामीजी के छोटे भाई महेन्द्रनाथ दत्त लिखते हैं – "विवाह राजा साहब ने खूब धूमधाम से किया था और नरेन्द्रनाथ के सम्बन्धियों को निमंत्रण-पत्र भेजा था। योगेन महाराज, शरत् महाराज तथा सान्याल महाशय – इन तीनों ने आपस में सलाह करके वहाँ आशीर्वाद के चिह्न-रूप बंगाल की उपयोगी ढाकाई साड़ी, धान, दुर्वा तथा सिंदूर भेज दिया था। क्योंकि यह बंगाल की प्रथा है, राजपुताने की नहीं। मुन्शी जगमोहन लाल द्वारा एक बार वर्तमान लेखक से इसका अर्थ पूछने पर वर्तमान लेखक ने समझा दिया कि धान का अर्थ है लक्ष्मी या अन्न, दुर्वा का अर्थ है पृथ्वी या भूमि और सिंदूर सधवा का चिह्न है, इसीलिए बंगाल में इन्हीं चीजों के उपहार के साथ नववधू को आशीर्वाद दिया जाता है। मुन्शी जगमोहन लाल इसे सुनकर विशेष आनन्दित हुए थे।[२०]

❖ (क्रमश:) ❖

---

१६. 'खेतड़ी-नरेश और स्वामी विवेकानन्द', पृ. ८५; और 'आदर्श नरेश', पृ. १३३

१७. The Complete Works of Sister Nivedita, Vol I, Ed. 1972, P. 192; The Master as I saw Him, Ed. 1972, P. 280

१८. Swami Vivekananda : A Forgotten Chapter of His Life, Beni Shanker Sharma, 2nd Ed., 1982, P. 205

१९. खेतड़ी-नरेश और स्वामी विवेकानन्द (पृ.९२-९३) में पं. झाबरमलजी शर्मा लिखते हैं – "स्वामी श्री. अखण्डानन्दजी ने दो पत्र (मूल) हमें भेजने की कृपा की है, जो कि राजाजी बहादुर ने उनके नाम स्वयं लिखे थे। यह मूल अंग्रेजी पत्र का हिन्दी रूपान्तर है।

२०. विवेकानन्द स्वामीजीर जीवनेर घटनावली, भाग २, पृ. १८५

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

(१०७) पिछले करम किया, सोई अब पाया

एक बार वशिष्ठ मुनि के पास एक राजा आया। उसने बताया कि उसकी चार रानियाँ हैं, जिन्हें उसने अलग-अलग काम दिये हैं, परन्तु वे सन्तुष्ट नहीं हैं। उनके सौतिया-डाह के कारण निरन्तर गृह-कलह होने से दु:खी होकर वह उनके पास समाधान के लिये आया है।

वशिष्ठ मुनि ने अपनी अन्तर्दृष्टि का उपयोग किया और उन्हें रानियों के कामों के बँटवारे का विवरण ज्ञात हो गया। वे महल में आये और उन्होंने पहली रानी से पूछा – ''तुम दूध दुहने का काम करती हो न? मगर क्या तुम इसका कारण जानती हो?'' उत्तर न मिलने पर महर्षि ने कहा – ''पिछले जन्म में तुम गाय थी। जंगल में चरने के लिये जाने पर वहाँ के शिवलिंग पर अपने दूध की धारा डालकर भगवान शंकर का अभिषेक करती थी। इसी से भगवान शंकर की इच्छा से तुम्हें यह काम मिला है, अत: तुम इसे अच्छी तरह निभाओ।''

रानी के खुशी से स्वीकृति देने पर वे दूसरी रानी के पास गये और उन्होंने उसे बताया – ''तुम पूर्वजन्म में केवल पाँच घरों से अनाज लाकर भगवान शंकर को उसके भोजन का भोग लगाती थी। भगवान शंकर ने कृपा करके तुम्हें भोजन का काम सौंपा है, इसे तुम खुशी-खुशी भलीभाँति निभाओ। इससे तुम्हें पुण्य मिलेगा।''

रानी के सन्तुष्ट होने पर तीसरी रानी के पास गये और कहा – ''पूर्वजन्म में तुम एक वानरी थी और वृक्षों के ताजे फलों को वहाँ के मन्दिर में भगवान शंकर की मूर्ति के पास छोड़ आती थी। उनकी कृपा से ही बच्चों को सँभालने का काम तुम्हें मिला है। इसे अच्छी तरह निभाने में ही तुम्हारा कल्याण है।'' उसने आश्वासन दिया – ''ठीक है, मैं अपने काम को अच्छी तरह निभाऊँगी।''

इसके बाद वे चौथी रानी के पास गये और उन्होंने उसे बताया कि पूर्वजन्म में वह एक चील थी। मध्याह्न के समय वह अपनी छाँव से शिवलिंग को धूप से बचाती थी। इसके परिणाम स्वरूप उसे राजा की सेवा का काम मिला है। इसे करना उसका कर्त्तव्य है। चौथी रानी ने भी बात को समझा और कलह करने के लिये क्षमा माँगी।

राजा ने यह देखा तो खुश होकर उसने वशिष्ठ मुनि को प्रणाम किया। मुनि ने उसे बताया कि मनुष्य-जन्म पूर्व संचित कर्मों का फल होता है और पूर्वजन्म के अधूरे कर्मों को भगवान दूसरे जन्म में कराते हैं। इसीलिये अपने दायित्व को अच्छी तरह से निभाने में ही व्यक्ति का कल्याण है।

(१०८) क्रोध बिगाड़े भक्ति के

मौलाना जलालुद्दीन शाही मस्जिद के इमाम थे। एक बार बादशाह नमाज अदा करने के लिये मस्जिद में गया, तो उसी समय एक नंग-धड़ंग फकीर वहाँ आया और उसने जलालुद्दीन से पीने के लिये पानी माँगा। उसे अपनी मौजदूगी में ही वहाँ आया देखकर बादशाह को गुस्सा आ गया। उसने जलालुद्दीन से कहा – ''इस काफिर को उठाकर सड़क पर फेंक दो।'' जलालुद्दीन के शिष्य जब फकीर के पास जाने लगे, तो उसने जलालुद्दीन से कहा – ''बाबा, अगर हमसे यहाँ से चले जाने को कहते, तो हम यहाँ से चले जाते। बल-प्रयोग क्यों करते हो? बल-प्रयोग करना हो, तो उसे अपने अन्दर के काफिर को निकालने के लिये क्यों नहीं करते? मैं तो खुदा का घर समझकर यहाँ आया था, मगर मुझे तो यह शैतान का घर दिखाई दिया।''

जलालुद्दीन ने चुप रहना ही बेहतर समझा। फकीर वहाँ से तुरन्त चला गया। बादशाह के नामाज अदा करके जाने के बाद जलालुद्दीन जब बाहर आये, तो उन्होंने फकीर को सड़क पर एक तरफ खड़ा पाया। उन्होंने उसके पास जाकर पूछा – ''तुमने खुदा की मस्जिद तो कबूल की, मगर इसे 'शैतान का घर' क्यों कहा?''

फकीर ने उत्तर दिया – ''हमें काफिर इसलिये कहा गया कि हम शाही लिबास में नहीं थे। यदि सच्चे दिल से मस्जिद को खुदा का घर समझा होता, तो मेरे लिये ऐसे शब्द न निकलते। आप लोग इस बात से वाकिफ नहीं थे कि खुदा की दुनिया में हर शख्स नंगा आता है और नंगा ही जाता है। मस्जिद को शैतान का घर कहने की दूसरी वजह यह थी कि खुदा के घर में खुशहाली रहती है और सबको सुकून मिलता है, गुस्से को वहाँ जगह नहीं मिलनी चाहिये। गुस्सैल व्यक्ति को इबादत से मिलनेवाला फल नष्ट हो जाता है।''

बादशाह भी जलालुद्दीन के पास ही खड़ा था और फकीर के शब्द सुन रहा था। उसे बड़ा पश्चाताप हुआ। दोनों समझ गये कि फकीर पहुँचा हुआ महात्मा है। दोनों उसके सामने नतमस्तक हो गये। फकीर चुपचाप वहाँ से चला गया।

❑❑❑

तानसेन और ताना-रीरी

रामेश्वर टांटिया

अनेक प्रसिद्ध व्यक्तियों के बारे में तरह-तरह की अटकलें लगाई जाती हैं। सन्त कबीर को हिन्दू कहा जाता है और मुसलमान भी। इसी प्रकार संगीत-सम्राट् तानसेन को कुछ लोग मुसलमान बताते हैं तो दूसरे व्यक्ति हिन्दू। पर इतिहास के अनुशीलन से जो तथ्य प्रकाश में आये हैं, उनके आधार पर सिद्ध होता है कि तानसेन नागर-ब्राह्मण थे। उनके पूर्वज गुजरात से बेहट (ग्वालियर) की ओर आकर बस गये थे।

वे अकबर के नवरत्नों में थे और अकबर, प्यार से उन्हें 'मियाँ तानसेन' कहा करता था। शायद इसी कारण 'पंडित तानसेन' के बारे में भ्रम भी फैला। वे अद्‌भुत प्रतिभा-सम्पन्न थे। स्वर मधुर था और हृदय रसपूरित। नागर-कुल में जन्म लेने के कारण उनमें सात्विकता के जन्मजात संस्कार थे। घर में भक्तिभाव, भजन एवं कीर्तन आदि का वातावरण होने के कारण उनकी प्रतिभा को मुखरित होने के पूरे अवसर मिले थे। पिता के निर्देश पर वे वृन्दावन-धाम गये और वहीं स्वामी हरिदासजी के पास रहकर संगीत-साधना करने लगे। उन्हीं के आशीर्वाद से तानसेन को दीपक-राग के स्वरों के सही सन्धान का ज्ञान तथा अनुभव प्राप्त हुआ था।

संगीत में निष्णात होने पर, उन्हें बांधवगढ़ नरेश राजा रामचन्द्र ने अपने दरबार में बुला लिया। इन्हीं दिनों, उन्होंने विभिन्न राग-रागिनियों पर काव्य की रचना की। कबीर, सूर, तुलसी के भजनों की तरह उनकी रचनायें भी शास्त्रीय-संगीत के क्षेत्र में घरों, मन्दिरों तथा दरबारों तक प्रसिद्धि पाने लगी।

सम्राट् अकबर ने तानसेन के बारे में सुना। मंत्रों से अग्नि प्रज्वलित करने की बात, हिन्दुओं के लिये भले ही विश्वसनीय हो, किन्तु मुसलमानों के लिये यह सहजतया ही मान्य तथ्य नहीं है। शाहंशाह को जब दीपक-राग की खूबियों का पता चला, तो वे तानसेन को अपने दरबार में रखने के लिये आकुल हो उठे। उन्होंने सेनापति मिर्जा अजीज को बांधवगढ़ भेजकर तानसेन को आगरा बुलवा लिया। राजा रामचन्द्र को मनसबदारी और खिलअतें बख्शी गयीं।

तानसेन आगरा में रहने लगे। बादशाह के साथ शिकार या सैर पर जाते; वहीं उनकी फरमाइश पर संगीत सुनाते। धीरे-धीरे दोनों के बीच आपसी नजदीकी बढ़ती गयी। दरबारियों ने बादशाह से गुजारिश की कि उन्हें भी तानसेन का संगीत सुनने का मौका दिया जाय। बादशाह ने मंजूरी दे दी।

दरबार खचाखच भरा था। कुछ तानसेन के हुनर और इल्म की गहराई परखना चाहते थे, तो कुछ ऐसे भी थे जो दोष निकालने के लिये बेताब हो रहे थे। अकबर ने मुस्कुराते हुए कहा – "मिर्जा ! आज हम ध्रुपद सुनना चाहेंगे।"

तानसेन ने सर झुकाया। साजिन्दों की ओर संकेत किया। तानपूरे के सधे हुये सुरों में उनका कण्ठ स्वर, मृंदग की ताल पर गुँजने लगा। बादशाह और दरबारी, सभी तन्मय हो उठे। करीब तीन-घण्टे तक सुधबुध खोये-से रहे। गायन की समाप्ति पर, सारा-दरबार एक-स्वर में कह उठा – "आफरीन, बेहतरीन, लाजवाब !" तानसेन को दरबार के नवरत्नों में शामिल किया गया और खिलअतें बख्शी गयीं।

चित्तौड़ पर फतह हासिल हो चुकी थी। जश्न मनाये जा रहे थे। पर अकबर का दिल हल्दीघाटी में मचायी गयी खूँरेजी से बेचैन था। उसकी आँखों के सामने अब भी चित्तौड़ के साके की धुँओं के अम्बार उठ रहे थे, दिल में अँधेरा-सा छाया रहता था। भयानक सूनापन ! अपनी परेशानी किसी के सामने जाहिर भी नहीं कर पाता। हँसी-दिल्लगी, नाच-गाने, बेगमें, अफीम, शराब – सब नाकाम सिद्ध हुये। सहसा याद आया – मियाँ तानसेन ! हाँ, यह खौफनाक अँधेरा बस मियाँ तानसेन ही हटा सकते हैं। फौरन तानसेन को बुलाया गया।

शाम हो रही थी। बादशाह अपने खास-महल में तकिये के सहारे बैठे क्षितिज पर बढ़ते अंधेरे को देख रहे थे। तानसेन हाजिर हुये। बादशाह ने कहा – "मियाँ तानसेन ! माबदौलत को बेहद परेशानी हैं। आँखों के सामने और दिल में एक अँधेरा महसूस हो रहा है। हमने सुना है कि दीपक-राग में अँधेरा दूर करने की ताकत है। तुम्हें इसका इल्म और हुनर हासिल है। सुनाओ और खूब सुनाओ ताकि इस मनहूस-अँधेरे से निजात पा सकूँ। आज इसीलिये शमादानों में रोशनी की इजाजत नहीं दी गयी है। गाओ मियाँ, ऐसा गाओ कि गम और खौफ का अँधेरा काफूर हो और सारा आलम रोशन हो जाये।"

तानसेन स्तब्ध रह गये। दीपक-राग छेड़ने के कितने भयंकर परिणाम हो सकते हैं, इसे सोचकर उनका मन काँप उठा, किन्तु शाही हुक्म को टालना सम्भव नहीं था। सरस्वती और गुरु का स्मरण कर सर्वप्रथम वैदिक मंत्रों के उच्चारण से अग्नि का आवाहन कर, दीपक-राग में गाना शुरू किया –

निसदिन सिलगत रहत महान अग्नि
ओंकार, पृथिवी पाताल आकाश तिनके वसन
दरशन प्रकाश आधार।
सकल ज्योति अग्नि ज्वालामय, ओंकार,
तू विचार आगम निगम
दूरि करौ सकल अन्धकार।

कहै मिया तानसेन सुन गुनी अकब्बर साहि ।
धरनि उद्धारकरन मंगलदीप मान ज्ञान
ब्रह्मावतार शिव ओंकार ... ।।

मृदंग-निनाद के साथ 'ओंकार' की ध्वनि बारम्बार गूँज उठी। ऐसा लगा मानो दिशायें तरंगित हो उठी हों। तानसेन स्वयं आँखे मूंदे हुये ओंकार-ध्वनि पर झूम उठते।

सहसा बिजली-सी कौंधी। शमादान जल उठे। खास महल जगमगा उठा। बादशाह ने कहा – "हमने दीपक-राग की करामात के बारे में सिर्फ सुना था, आज चश्मदीद हुआ। तस्कीन के साथ सुकून भी हासिल हुआ। तुम्हारे इस हूनर की कीमत चुकायी नहीं जा सकती फिर भी हम तुम्हें दो लाख अशर्फी भेंट करते हैं।"

उचित परिस्थिति के बिना दीपक-राग गाने का परिणाम यह हुआ कि तानसेन के पूरे शरीर में जलन होने लगी। इसे मेघ-मल्हार राग ही शान्त कर सकता था, पर स्वयं गायक द्वारा नहीं, किसी दूसरे से उसे सुनना जरूरी था। तानसेन ने बादशाह को अपनी समस्या बतायी और उनसे आदेश लेकर सोमनाथ महादेव के दर्शन के लिये सौराष्ट्र चल पड़े।

मार्ग में वे बड़नगर के शिव-मन्दिर में ठहरे। पूर्वजों की भूमि में आकर उन्हें मानसिक शान्ति का बोध हुआ। भाद्रपद मास बीत रहा था। तो भी वर्षा नहीं हुई थी। धरती तप रही थी, सूखे और अकाल से त्राहि-त्राहि मची हुई थी। परम्परा के अनुसार महिलायें भजन-कीर्तन करती हुई, ईश्वर से वर्षा के लिये प्रार्थना कर रही थीं। सहसा तानसेन को लगा उनके देह की तपन धीर-धीरे कम हो रही है। मेघमल्हार में उनकी अपनी ही रचना के शब्द कानों में आ रहे थे –

नाचति चपला चंचल गति,
ध्वनि मृदंग घन भेदत जात,
कोकिला अलापत, पपैया आस देत
सुघर सुर मोर ध्यावत
मधुर तार धार धुनि सुनियतु
रुनझुन धुनि पर नाचत
तानसेन प्रभु शिव-सोमनाथ
रस-पीयूष सरसावत ।।

स्वरों में अपूर्व माधुर्य था! कानों में मानो अमृत-रस घुलने लगा। शरीर की जलन मिट गयी। वीणा, मृदंग और स्वर की दुनिया में वे आत्म-विस्मृत से हो गये। थोड़ी देर बाद नभ में घटाएँ उमड़ आयीं। जोरों की वर्षा होने लगी। तानसेन का तन-मन स्निग्ध हो उठा। सूखे तालाब भरने लगे। धरती की प्यास मिटी, जनता में हर्षोल्लास छा गया।

तानसेन ने मन्दिर में ही रात बितायी। मन में एक ही प्रश्न उठ रहा था – इतने शुद्ध-रूप में मेघ-मल्हार गानेवाली ये ललनायें कौन थीं। पुजारी ने बताया कि वे दोनों वहाँ के जमींदार नीलकण्ठ राय की पुत्र-वधुएँ और भक्त नरसी मेहता की पुत्री नानीबाई की दौहित्री हैं। नाम था – ताना और रीरी।

बड़नगर में बात छिपी नहीं रही कि वहाँ तानसेन ठहरे हुए हैं। राय नीलकण्ठ स्वयं उनसे मिलने आये। पता चला कि वे संगीतप्रेमी और गुरुभाई भी हैं। भजन-कीर्तन का विशेष आयोजन हुआ। तानसेन सहर्ष सम्मिलित हुये। ताना-रीरी, दोनों बहनों के गायन के बाद, उन्होंने भगवान हाटकेश्वर पर स्वरचित एक भजन सुनाया। लोग भाव-विभोर हो उठे।

तानसेन आगरा लौटे। इस घटना की चर्चा उन्होंने किसी से न की, क्योंकि वे जानते थे ताना-रीरी के सौन्दर्य और गुण की बातें आगरे में क्या परिणाम उत्पन्न कर सकती हैं। पर उनके पहुँचने से पूर्व ही, अकबर को सारी सूचना मिल चुकी थी। नीलकण्ठ राय के किसी द्वेषी ने ताना-रीरी के सौन्दर्य और उनकी गायन-कला की बातें, बढ़ा-चढ़ा कर बादशाह को लिख भेजी थीं। बादशाह तो ऐसे मौके देखता ही रहता था। उसने फौरन इस हुक्म के साथ एक वरिष्ठ सरदार को बड़नगर भेजा कि जैसे भी हो दोनों बहनों को हाजिर करो।

बड़नगर पहुँच कर सरदार ने नीलकण्ठ राय को शाही हुक्म सुनाया। चारों ओर हाहाकार मच गया। ताना और रीरी ने भी स्थिति की गम्भीरता को समझा।

गाँव के बड़े-बूढ़े और विशिष्ट-जनों की सभा बुलायी गयी। अकबर से टकराने का तो कोई सवाल ही नहीं था। सवाल था कि दोनों बहनों को आगरा भेज दिया जाय या सारे गाँव को मटियामेट होने दिया जाय। ताना और रीरी ने अपने श्वसुर और दादा को विश्वास दिलाया – "हमें आगरा जाने दिया जाय। कुल की मर्यादा और सतीत्व को हम अक्षुण्ण बनाये रखेंगी। भगवान हाटकेश्वर हमारी रक्षा करेंगे।"

आगरे के दीवान-ए-खास चुने हुये दरबारियों और नवरत्नों के बीच गाने की महफिल का इन्तजाम किया गया। तानसेन के विशेष आग्रह पर दोनों बहनें, पर्दे के पीछे बेगम और शाहजादियों के बीच बैठीं। बादशाह ने मेघ-मल्हार गाने का हुक्म देते हुये मुस्कुराते हुए कहा – "हम देखना चाहेंगे कि कार्तिक के महीने में बारिश मुमकिन है या नहीं।"

साजिन्दों ने सुर सम्हाला और पर्दे के पीछे से माधुर्य-भरी स्वर-लहरी फूट निकली। लगा रहा था मानो सम्पूर्ण जीवन-रस शत-सहस्र धाराओं में चतुर्दिक फैल रहा है। बारिश कब शुरू हुई, इसका किसी को आभास तक न हो पाया। स्वर-लहरी थम चुकी थी। पर्दे के पीछे फर्श पर पानी बढ़ने लगा। बेगम और शाहजादियाँ उठकर अपने महलों में जाने लगीं। उन्होंने देखा कि दोनों बहनें शान्त-भाव से एक-दूसरे का हाथ थामे खून के सैलाब में चिर निद्रा में सो रही हैं। उनके सीने से रक्त की धारा बह रही थी और पास ही दो कटारें पड़ी थीं।

* * *
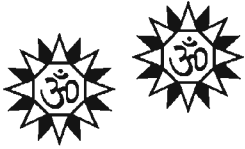
स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण
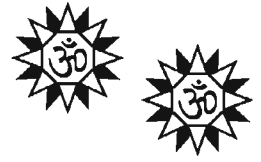
के. एस. घोष

(धन्य थे वे लोग, जिन्होंने स्वामीजी के काल में जन्म लिया तथा उनका पुण्य सान्निध्य प्राप्त किया। उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आनेवाले अनेक लोगों ने अपनी अविस्मरणीय स्मृतियाँ लिपिबद्ध की हैं, जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों में प्रकाशित हुई हैं। प्रस्तुत संस्मरण अद्वैत आश्रम द्वारा प्रकाशित 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ से गृहीत तथा अनुवादित हुआ है। – सं.)

'वेदान्त-केसरी' मासिक के सम्पादक के अनुरोध पर, मैं संकोचपूर्वक अपने जीवन की एक घटना का वर्णन करने जा रहा हूँ, जिसे मैंने करीब ४० वर्षों तक स्वयं तक ही सीमित रखा। वस्तुत: यह घटना कवि कामिनी राय द्वारा प्रकाशित 'नव्यभारत' नामक पत्रिका में अति संक्षिप्त रूप से उल्लिखित हुई है, परन्तु अन्यत्र कहीं भी प्रकाशित नहीं हुई है।

मेरी युवावस्था में मुझमें जैसा आत्म-विश्वास का अभाव था, अब इस वृद्धावस्था में वैसा नहीं है और स्वामी विवेकानन्द के जीवन की इस क्षणिक घटना को यह दिखाने के लिये प्रकाशित किया जा सकता है कि वे छोटी-छोटी बातों में भी महान् थे और स्कूली छात्रों के साथ एक सरल बालक के समान व्यवहार कर सकते थे। मेरी स्मरण-शक्ति अब इसका जितना भी वर्णन की अनुमति देगी, उसे इस आशा के साथ लिपिबद्ध किया जा रहा है कि वह ऐसे लोगों के लिये रुचिकर हो सकती है, जो स्वामीजी के विषय में सब कुछ जानने को उत्सुक हैं।

इस देश में जीवनी लिखने की कला अब भी अपने शैशव में ही है। तो भी हमारे कुछ महत्त्व-पूर्ण लोगों की अनेक अच्छी जीवनियाँ लिखी गयी हैं। उनमें हमें उनकी उपलब्धियों का ब्योरा मिलता है, परन्तु उनके मानवीय भाव तथा उनकी असफलताएँ, जो उनकी जागतिक जीवन को रंग तथा स्वाद प्रदान करती हैं, उनमें से कई में देखने को नहीं मिलतीं। यह घटना महान् स्वामीजी के एक रोचक मानवीय पहलू को प्रकट करती है, अत: पाठकों के लिये रुचिकर प्रतीत हो सकती है।

१८९८ ई. में मैं वैद्यनाथ देवघर के हाईस्कूल में मैट्रिक का छात्र था। उस साल नवम्बर के महीने में एक बार हमारे प्रधानाचार्य कविभूषण योगीन्द्रनाथ बोस, जो कवि माइकेल मधुसूदन दत्त के जीवनीकार भी थे, ने हमें बताया कि शिकागो की धर्म-महासभा से प्रसिद्धि पाये हुए स्वामी विवेकानन्द जलवायु-परिवर्तन हेतु हमारे कस्बे में आये हुए हैं। हमारे प्रधानाचार्य ने बताया कि वे उनके सहपाठी रह चुके हैं और यदि उनका कोई छात्र उन असाधारण व्यक्ति से मिलना चाहे, तो उसके लिये यही सुअवसर है।
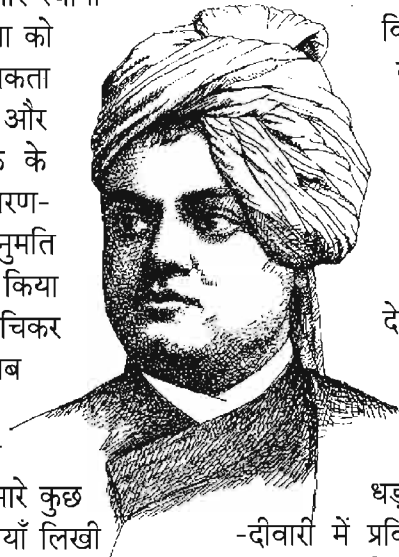
१८९३ ई. में स्वामीजी ने अमेरिका की धर्म-महासभा में जिस महान् प्रभाव की सृष्टि की थी, उसने इस देश में एक तरह की सनसनी पैदा की और हमारे देशवासियों के आत्म-विश्वास में काफी वृद्धि कर दी थी। इस भारतीय संन्यासी की ख्याति हम स्कूल के तरुण छात्रों तक भी पहुँची थी और हमें स्वाभिमान से परिपूर्ण कर दिया था। वेदान्त, गीता तथा अद्वैतवाद आदि शब्द हमारे कानों तक पहुँचे, परन्तु उनका तात्पर्य समझना हमारी बुद्धि के परे था। स्वामी विवेकानन्द के पास हम स्कूली बच्चों के साथ बरबाद करने के लिये समय नहीं होगा – यह विचार हमें निरुत्साहित नहीं कर सका। मैंने और मेरे मित्र सतीश चन्द्र मजुमदार ने इसके लिये प्रयास करने का निश्चय किया और एक दिन अपराह्न में हम दुर्वा नामक उस पहाड़ी नदी की ओर चल पड़े, जो सुन्दर देवघर नगरी की पश्चिमी सीमा का निर्धारण करता है। स्वामीजी उसी के पास, अपने कोलकाता के एक शिष्य द्वारा उपलब्ध कराये गये एक मकान में ठहरे हुए थे।

धड़कते हुए हृदय के साथ हम मकान की चहार-दीवारी में प्रविष्ट हुए और घर के नौकर-जैसे दिखनेवाले एक व्यक्ति से पूछा कि स्वामीजी कहाँ हैं! उसने चुपचाप गैरिक वस्त्र पहने एक भव्य व्यक्ति की ओर संकेत किया, जो हाथ में छाता लिये हुए मकान के पश्चिमी ओर से धीरे-धीरे चले आ रहे थे। हमें यह समझने में कोई कठिनाई नहीं हुई कि वे कौन हैं! वे स्वामीजी ही थे। हम साहस जुटाकर तेज कदमों से उनके पास पहुँचकर उनके चरण स्पर्श करने के लिये झुके। परन्तु वे जल्दी से पीछे हट गये और हमें अपने चरण स्पर्श नहीं करने दिया। उन्होंने पूछा कि हम कौन हैं और हमारे आने का क्या उद्देश्य है।

हमने बताया कि हम स्थानीय हाईस्कूल में पढ़ते हैं और उन्हें प्रणाम करने आये हैं। मकान के सामने की सड़क दुर्वा नामक पहाड़ी नदी की ओर जाती थी। हमसे अपने पीछे-पीछे आने को कहकर वे उसी ओर चल दिये। स्वामीजी को अपने बीच अकेले पाकर और उनके साथ टहलने जाने का सौभाग्य पाकर हमें बड़े अभिमान का बोध हुआ।

वह मकान नगर के सर्वाधिक सुन्दर भाग में स्थित था। वहाँ से आधे मील तक एक अच्छी सड़क दुर्वा नदी के उस पार तक चली गयी थी और एक ऊँची घाटी से होते हुए उसके पार जाकर उधर की पहाड़ियों के बीच खो गयी थी। यह शरत् काल के प्रारम्भ के एक सुन्दर अपराह्न का समय था; आकाश अत्यन्त स्वच्छ था और दूर स्थित आकर्षक हरियाली से लिपटी पहाड़ियाँ नीचे के मैदानी अंचल की ओर देखती हुई खड़ी थीं।

जब हम स्वामीजी के साथ धीरे-धीरे टहल रहे थे, तो ऐसा लगा कि उन्हें साँस लेने में थोड़ी तकलीफ हो रही है। पूछने पर उन्होंने बताया कि उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं चल रहा है और वे उस आरोग्य-स्थल में कुछ दिनों के लिये विश्राम करने हेतु आये हुए हैं।

उनका विचार था कि उनका हृदय तो स्वस्थ है, परन्तु उनके फेफड़ों में थोड़ी तकलीफ है। हम यह सोचकर आये थे कि स्वामीजी को ज्योंही अवसर मिलेगा, वे हमारे साथ वेदान्त-दर्शन पर चर्चा करेंगे। परन्तु उस दिशा में उन्हें खींचने का हमारा प्रयास निरर्थक सिद्ध हुआ। वे सेंट पॉल के समान सभी लोगों के लिये अलग-अलग होना चाहते थे। उन्होंने वेदान्त को उन लोगों के लिये सुरक्षित रखा था, जो उसके लिये उपयुक्त थे। हजारों स्कूली बच्चे जो अपनी पढ़ाई-लिखाई और तथाकथित शिक्षा के नाम पर अपना स्वास्थ्य चौपट कर रहे थे, उनके हम दो प्रतिनिधियों के साथ उन्होंने स्वास्थ्य, आरोग्य तथा सफाई के बारे में बातें कीं। उन्होंने पश्चिमी क्षितिज की ओर के ऊपर भव्यता के साथ खड़ी सुदूर स्थित पहाड़ियों की ओर दृष्टिपात करते हुए पूछा कि क्या हमने कभी उन पर आरोहण किया है! हमारे यह कहने पर कि हमें अभी तक उतनी दूर तक जाने का सौभाग्य नहीं मिल सका है, उन्होंने विस्मय प्रकट किया। इसके बाद उन्होंने बताया कि बीच-बीच में भ्रमण-यात्राओं पर जाना स्वास्थ्य के लिये बड़ा हितकर है। उन्होंने यह भी कहा कि रविवार की दुपहरियों का सदुपयोग करने का सर्वश्रेष्ठ उपाय यह है कि हम अपने साथ कुछ अल्पाहार लेकर पूरा दिन सामने की पहाड़ियों के चुने हुए स्थलों पर प्रकृति के सान्निध्य में बितायें और शाम तक तरो-ताजा होकर लौट आयें।

उन्होंने छात्रावास में हमारी पढ़ाई तथा भोजन की व्यवस्था के विषय में पूछा। यह सुनकर कि हम नियमित रूप से थोड़ा-थोड़ा घी लिया करते हैं, उन्होंने 'दुष्पाच्य' शब्द पर विशेष बल देते हुए अधिक मात्रा में घी खाने से मना किया, क्योंकि वह दुष्पाच्य है और उसकी जगह मक्खन को कहीं अधिक अच्छा बताया।

बातचीत के दौरान यह ज्ञात होने पर कि हम पूर्वी बंगाल के हैं, उन्होंने बताया कि वर्षों पूर्व वे हमारे अंचल में जा चुके हैं और देखा कि वहाँ के लोगों का खानपान अच्छा है। किसी साधारण संन्यासी के ध्यान में न आने वाली वहाँ के जीवन की सामान्य बातों में भी उनकी रुचि थी, बशर्ते वे लोगों के स्वास्थ्य या कल्याण से जुड़ी हों।

इस प्रकार बातें करते हुए हम पहाड़ी नदी दुर्वा के पास जा पहुँचे। थोड़ी देर तक उसके किनारे ठहरने के बाद हम लौट पड़े। जब हम लोग चुपचाप चल रहे थे, तो हमने देखा कि लगातार बातें करने के फलस्वरूप वे थक गये हैं और गहरी साँसें उनके लिये असुविधा उत्पन्न कर रही हैं। हमें कुछ हद तक अनुभव हुआ कि एक सशक्त आत्मा एक ऐसे शारीरिक ढाँचे के साथ संघर्ष कर रही है, जो परिश्रमपूर्ण यौवन के अथक कर्मठता के भार से झुका जा रहा था। परन्तु हम यह नहीं जानते थे कि उनका देहपिंजर निकट भविष्य में ही उनकी आत्मा को अपनी सीमा में बाँधे रखने में असमर्थ होकर उसे उन्मुक्त कर देने वाला था।

हमारे तरुण मन मानो इन महापुरुष से सम्मोहित हो चुके थे और उनमें हल्के-फुलके और गम्भीर – हर तरह के विचार आ रहे थे। हमने पूछा कि क्या वे वहाँ पर कोई सार्वजनिक भाषण देनेवाले हैं और क्या हम बीच-बीच में उनसे मिलने आ सकते हैं! उत्तर में उन्होंने बताया कि चिकित्सकों द्वारा उन्हें पूर्ण विश्राम की सलाह दी गयी है और नगर में उनके निवास की अवधि भी अनिश्चित है।

परन्तु स्वामीजी अब सड़क के बीच में खड़े हो गये और उसका कारण समझे बिना ही हम भी जहाँ थे, वहीं ठहर गये। राजोपम व्यक्तित्ववाले स्वामीजी अपनी शारीरिक दुर्बलता की परवाह न करते हुए उत्सुकतापूर्वक मेरे पैरों की ओर देखते हुए खड़े थे। वस्तुत: उन्हें मेरे जूते के फीते बाँधने की पद्धति में दोष दिख गया था – प्रत्येक फीते के दोनों छोर एक ही ओर घूमे हुए थे। उन्होंने मुझसे फीतों को ठीक ढंग से बाँधने को कहा। पूर्वी बंगाल के दूर-दराज के कस्बे में जन्म तथा पालन होने के कारण मैं उनका संकेत समझ नहीं सका। मैंने अपने जूतों की ओर देखा, परन्तु स्वामीजी की बेचैनी का कारण मेरी समझ में नहीं आया। इस विषय में उनकी चिन्ता मेरे लिये एक अबूझ पहेली थी। एक साधारण-सी वस्तु का उनका सूक्ष्म निरीक्षण, न केवल उनकी निरीक्षण-शक्ति की तीव्रता को व्यक्त करता है, अपितु आधुनिक जीवन-शैली के सदाचार का एक उच्च मानदण्ड भी प्रदर्शित करता है। मेरे मित्रों ने कभी मेरी वेशभूषा की स्वच्छता के लिये मेरी प्रशंसा नहीं की थी। कभी-कभी तो इन चीजों के प्रति उदासीनता अधोगति को प्राप्त होकर अव्यवस्था में परिणत हो गयी होगी। परन्तु वर्तमान परिस्थिति में मेरी भूल यह थी कि यद्यपि इस शुभ अवसर पर मैंने नये जूते पहन रखे थे, परन्तु मैंने अपने जूतों के फीते इस ढंग से बाँध रखे

थे कि उसके दोनों छोर एक ही दिशा में हो गये थे, जबकि प्रथा यह है कि उसके दोनों छोर विपरीत दिशाओं में होने चाहिये। यह बात सूक्ष्म दृष्टि एवं मेधा से सम्पन्न स्वामीजी के नजरों से बच नहीं सकी थी। मैं किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर उनके समक्ष जड़वत् खड़ा रह गया। उन्होंने मुझसे उसे ठीक ढंग से बाँध लेने को कहा। इससे मैं और भी अधिक लज्जित हो उठा। उसके बाद उन्होंने अपनी अंगुलियों से मेरे जूते की ओर संकेत किया। इससे मैं और भी ज्यादा उलझन में पड़ गया। मुझे जड़वत् खड़े देखकर वे स्वयं झुके और कह उठे, "ठीक है, मैं ही कर देता हूँ।" मैंने यंत्रवत् अपना दाहिना पाँव स्वामीजी की ओर बढ़ा दिया और कुछ ही क्षणों में उन्होंने फीते के दोनों छोरों को विपरीत दिशाओं में रखते हुए उसे ठीक ढंग से बाँध दिया और मुझसे दूसरे फीते को भी उसी प्रकार बाँध लेने को कहा। उनका यह पूरा व्यवहार मुझे इतना स्वाभाविक, परन्तु इतना सार्थक लगा कि क्षण भर के लिये मैं अपना बोध खो बैठा और मैं उनके अनुरोध के अनुसार कार्य नहीं कर सका। उस समय मैं उनकी अपेक्षा के अनुरूप नहीं कर सका, यह बात मुझे इतने दिनों बाद अब भी बेचैन कर देती है। कोई शहरी लड़का आसानी के साथ इस परिस्थिति से समायोजित कर लेता और स्वामीजी की प्रशंसा भी हासिल कर लेता। बीमारी से अपरिचित होने के कारण मैं स्वामीजी द्वारा सुझायी गयी दवा नहीं ले सका। सौभाग्यवश वे सहज ही समझ गये कि मैं घबड़ाया हुआ हूँ और उन्होंने इस विषय में आगे कुछ नहीं कहा। मेरी चेतना लौटी और अनजाने में हुई उनकी अवज्ञा जैसी भूल के लिये क्षमायाचना के रूप में मैंने उनके चरण छूने का प्रयास किया, परन्तु वे पीछे हट गये और प्रचलित हिन्दू प्रथा के अनुसार मुझे अपनी चरणधूलि लेने की अनुमति नहीं दी। महान् स्वामीजी द्वारा एक स्कूली छात्र के जूते के फीते बाँध देना – इस घटना में कितनी बड़ी मानवता तथा विनम्रता का भाव निहित है। भारत तथा विदेश के कितने ही शिक्षित नर-नारियों ने उनके चरण स्पर्श करने का अवसर पाकर स्वयं को सौभाग्यशाली माना होता ! उनकी यह पूर्ण आत्मविस्मृति इतनी मनमोहक, इतनी उत्कृष्ट तथा इतनी करुणापूर्ण थी कि इस विषय में और कुछ कहना व्यर्थ है। इस क्षणिक घटना ने उन्हें हमारी दृष्टि में अनन्तगुना ऊँचा उठा दिया और जीवन भर के लिये उनके पवित्र नाम को अत्यन्त प्रिय बना दिया। उनसे विदा लेने का समय हो गया था और हमने तीसरी बार उनके चरण स्पर्श करने का असफल प्रयास किया।

संध्या हो जाने पर हम अपने छात्रावास में लौट आये। इस घटना की बात बड़े द्रुत वेग के साथ पूरे छात्र-जगत् में फैल गयी और बहुत-से मित्रों ने आकर उस फीते को देखा, जो स्वामीजी के स्पर्श से धन्य हो गया था। वे लोग किसी भी हालत में मुझे वह फीता खोलने और जूता उतारने देने को राजी न थे। वैसे काफी रात गये बड़े अपराध-बोध तथा भारी मन के साथ मुझे वैसा करना पड़ा। वह दिन बीत चुका है, परन्तु उसकी स्मृति अब भी मुझे पकड़े हुए है और जब तक जीवित रहूँगा, पकड़े रहेगी। इस घटना ने स्वामीजी की गहन मानवता तथा शिशुवत् सरलता को प्रकट किया, जो उन्हीं की कोटि के एक महान् व्यक्ति में होना सम्भव है। मन में महान् विचारों पर चिन्तन करते हुए और सामाजिक दोषों को दूर के लिये महान् योजनाएँ बनाते हुए भी वे बच्चों, पीड़ितों तथा सामान्य लोगों से प्रेम करना भी जानते थे। श्री चैतन्य महाप्रभु के शब्दों में वे थे – '**तृणादपि सुनीचेन**' – घास के एक तिनके से भी अधिक विनम्र थे।

कुछ दिनों बाद मैंने स्वामीजी को दूसरी और अन्तिम बार देवघर स्टेशन पर तब देखा, जब वे कोलकाता लौटने के लिये रेलगाड़ी के एक डिब्बे में सुप्रसिद्ध नाटककार गिरीशचन्द्र घोष की बगल में बैठे हुए थे। उस समय स्वामीजी ने यात्रा के वस्त्र पहन रखे थे और पान खाते हुए भारतीय ढंग से हुक्का पी रहे थे। एक साधारण संन्यासी इस प्रकार जनता के सामने आने में संकोच करेगा कि कहीं रूढ़िवादी भावनाओं को आघात न लगे। पर स्वामीजी इन सामाजिक रीति-रिवाजों की परवाह नहीं करते थे। यही उनकी शक्ति का उत्स था और अपने ही देश के कुछ विशेष वर्गों में उनकी अलोकप्रियता का कारण भी था। एक निष्काम कर्मी के रूप में वे इन दोनों के प्रति उदासीन थे।

एक बात और। इमर्सन ने कहीं एक संन्यासिनी की कथा का वर्णन किया है, जिसने रोम के निकट चमत्कारों का प्रदर्शन किया था। इससे तत्कालीन पोप बेचैन हो उठे थे। उन्होंने नेरी के सेंट फिलिप को इस विषय में जाँच-पड़ताल करने को कहा। सेंट फिलिप उस मठ में पहुँचे, जहाँ वह संन्यासिनी का निवास था और वहाँ के प्रमुख से उन संन्यासिनी से साक्षात्कार करने की अनुमति माँगी। अनुमति मिल गयी। वे एक कमरे में संन्यासिनी की प्रतीक्षा करते रहे और उसके आ जाने पर उन्होंने अपने भारी बूटों से युक्त पैरों को पास की एक कुर्सी पर रखते हुए संन्यासिनी से उन्हें खोल देने का अनुरोध किया। संन्यासिनी इस पर नाराज होकर लौट गयी। सेंट फिलिप क्षण भर में ही कमरे से बाहर आ गये और पोप के पास दौड़ते हुए जाकर उन्हें आश्वस्त किया कि आशंका की कोई बात नहीं; क्योंकि संन्यासिनी में विनम्रता नहीं है और विनम्रता के बिना कोई आध्यात्मिक चमत्कार नहीं हो सकता।

निश्चय ही, स्वामी विवेकानन्द की अद्भुत शक्तियों का उत्स उनकी अन्तरात्मा में छिपी विनम्रता में निहित था।

(वेदान्त केसरी, जनवरी १९३८ से)

दैवी सम्पदाएँ (२६) नातिमानिता

भैरवदत्त उपाध्याय

(गीता में आसुरी गुणों के साथ ही दैवी गुणों का भी निरूपण किया गया है। विद्वान् लेखक ने इस लेखमाला में दैवी गुणों का सविस्तार विश्लेषण किया है और विभिन्न शास्त्रों व आचार्यों के विचारों के आधार पर बताया है कि इन्हें अपने जीवन में कैसे लाया जाय। – सं.)

नातिमानिता – गीतोक्त दैवी सम्पदाओं में अन्तिम दैवी सम्पदा है। आचार्य शंकर ने इसे स्पष्ट करते हुये लिखा है – अत्यन्त मान का नाम अतिमान है और वह जिसमें हो, वह अतिमानी है; उसका भाव अतिमानिता है, उसका अभाव नातिमानिता है अर्थात् अपने में अतिशय पूज्य-भावना का न होना – **अत्यर्थं मानः अतिमानः, स यस्य विद्यते सः अतिमानी, तद्भावः अतिमानिता, तदभावो नातिमानिता, आत्मनः पूज्यतातिशय-भावनाभाव इत्यर्थः** ।[१] श्रीधराचार्य ने भी इसी आशय की पुष्टि की है।[२] जो अपने आपको अत्यन्त सम्माननीय मानता है, दूसरों से अत्यधिक मान, सम्मान तथा पूजा की आकांक्षा रखता है, आत्मश्लाघा करता है, झूठे बड़प्पन को ओढ़कर समाज में विशिष्ट स्थान की अपेक्षा करता है, वह अतिमानी है। श्रीयुत जयदयाल गोयनका ने लिखा है – "अपने को श्रेष्ठ, बड़ा या पूज्य समझना एवं मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, पूज्यता आदि की विशेष इच्छा करना और बिना इच्छा भी इन सबके प्राप्त होने पर विशेष प्रसन्न होना – ये अतिमानिता के लक्षण हैं।"[३] स्वामी रामसुखदास के अनुसार – "मानिता – साधारण मान की अभिलाषा सभी मनुष्यों में होती है जैसे गुरु को शिष्य से, माता-पिता को पुत्र से, वृद्ध को छोटे से सामान्य शिष्टाचार की अपेक्षा होना गलत नहीं है, परन्तु सामान्य सीमा से अधिक मान चाहना तो सर्वथा गलत है।"[४] अतिमान, अभिमान और अंहकार – प्राय: समान भाव की व्यंजना करते हैं। दम्भ और दर्प भी अहंकार के अनुवर्ती हैं। दम्भ, मिथ्याचार, ढोंग और पाखण्ड – इसमें व्यक्ति धर्माचरण का बाह्य प्रदर्शन तो करता है, किन्तु वस्तुत: उसमें श्रद्धा, आस्था तथा सत्यविश्वास नहीं होता।[५] वैसे ही थोड़ा-सा मान, बड़ाई, पद, ज्ञान, धन, जन, दैहिक बल पा जाने पर इतराने लगना दर्प है।[६] ये सभी आसुरी गुण हैं, आसुरी सम्पत्तियाँ हैं। आसुरी प्रकृति के लोग अतिमान, अभिमान, अंहकार, दम्भ, दर्प, क्रोध और कठोरता-कड़ुवाहट-भरा तीखापन आदि दुर्गुणों को धारण करते हैं। जिनसे उन्हें सांसारिक बन्धन-दुर्व्यसन एवं लड़ाई-झगड़े जकड़ लेते हैं और वे अशान्ति तथा अपयश को प्राप्त होते हैं।
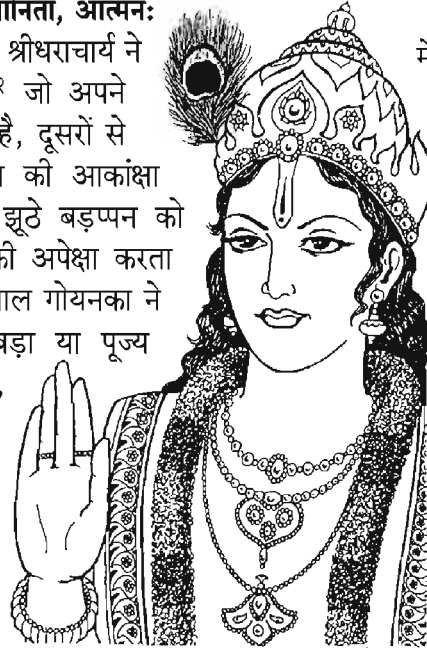
मान, मोह, काम तथा मद आदि पूरे ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं – **मान मोह मारादि मद, व्यापि रहे ब्रह्माण्ड**। ये चोर हैं, जो मोहरूपी रात्रि में स्वच्छन्द अतिचार करते हैं। जब मानव की प्रबुद्ध चेतना मोहासक्त होकर निष्क्रिय हो जाती है – **मोह निसा सब सोबनिहारा**। मोहनिशा में सर्वसामान्य जन सो जाते हैं, तब इन चोरों की बन पड़ती है। इस रात में संयमी व्यक्ति ही जागकर उनसे बच पाता है।[७] मोह से ही अहंकार की उत्पत्ति होती है। सन्त तुलसी ने विविध मनोरोगों में मान, मद, कपट, दम्भ तथा अहंकार को सम्मिलित कर मोह को उनका मूल माना है – **मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला**। उन्होंने मोह की सन्तति अहंकार को अत्यन्त दु:खदायी डमरुआ और मान-मद आदि को नहरुआ का रूपक दिया है –

अहंकार अति दुखद डमरुआ।
दम्भ कपट मद मान नहरुआ।।

देवी भागवत में अहंकार को मोह का मल और नारद-पुराण में मन का स्वभाव कहा है।[८] अंहकार की अग्नि में पूरा संसार जल रहा है – **अहंकार की अगिनि में दहत सकल संसार**।[९] 'अहम्-अहम्', 'मैं-मैं' करने से अहंकार होता है – **अत्राभिमानादहमित्यहंकृतिः**। अहंकार वह अमरबेल है, जो

१. गीता, अध्याय १६, श्लोक ३ पर शांकरभाष्य

२. आत्मन्यतिपूज्यत्वाभिमानस्तदभावो नातिमानिता। (श्रीधरी टीका)

३. गीता-तत्त्व-विवेचनी, गीताप्रेस, गोरखपुर

४. गीता-भाष्य (हिन्दी), स्वामी रामसुखदास, गीताप्रेस, गोरखपुर

५. दम्भ: धर्मध्वजित्वं दर्प: धनस्वजनादिनिमित्त उत्सेक:। (शांकर-भाष्य)

६. दर्पस्तु पर-ह्रासेच्छा मान्योऽहं सर्वतोऽधिक:। (महाभारत-शुक्रनीति)

७. या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।। (गीता, २/६९)

८. मोहमलमहंकार: संसारस्तत्समुद्भव:।
अहंकार विहीनानां न मोहो न च संसृति:।।
तथा – अहंकारो मनोधर्म:। (नारद-पुराण, ३५/६२)

९. वैराग्यसंदीपनी, ५.४

हरियाली, सौन्दर्य, कीर्ति-कोपलों और विकास-रस को अवशोषित कर जीवन-वृक्ष को सुखा देती है। वह ऐसी विष-बुझी तलवार है, जो अपने तथा दूसरे के लिये घातक सिद्ध होती है। वह व्यक्ति को क्रूरता अनाचार और अत्याचार की ओर प्रेरित कर दानव बनाता हैं। "मैं हूँ, मेरी सत्ता है, यह मेरा है और मेरे लिये है" – ये भाव अंहकार में होते हैं। अहंकारी अपनी देह को ही सब कुछ मानता है। "देहोऽहम् – मैं देह हूँ" – यह उसकी असत् धारणा हो जाती है। दैहिक तथा सांसारिक सम्बन्ध ही उसके लिये सर्वोपरि होते हैं। वह मन, बुद्धि और इन्द्रियों के कार्यों को अपना मानता है और ऐश्वर्य पर फूला नहीं समाता। वर्णाभिमान, कुलाभिमान, गोत्राभिमान, आश्रमाभिमान, नामाभिमान, रूपाभिमान, स्वास्थ्याभिमान, राष्ट्राभिमान, प्रजात्याभिमान, धर्माभिमान तथा सम्प्रदायाभिमान आदि दैहिक अभिमानों में अनेक प्रकार के पाप करता है। कालिदास ने कहा है – **न रूपं पापवृत्तये** – रूप है, तो वह पापवृत्ति के लिये नहीं है। रूप पण्य नहीं है, बाजार में बेचने की वस्तु नहीं है और न वह उन्मुक्त भोग-विलास के लिये प्रदत्त है। 'अष्टावक्र-गीता' में लिखा है कि देहाभिमान से पुरुष जो पाप करते हैं, वह करोड़ों गायों का वध करने से भी नहीं होता, क्योंकि शास्त्रों ने इसके प्रायश्चित्त का तो विधान किया है, जिससे शुद्धि हो सकती है, किन्तु देहाभिमान से निष्पादित पापों के प्रायाश्चित्त का कोई विधान नहीं है –

देहाभिमानाद्यत्पापं न तद्गोवधकोटिभिः ।
प्रायश्चित्ताद् भवेच्छुद्धिर्नृणां गोवधकारिणाम् ।।

देहाभिमान से जब तक मुक्ति नहीं होती, तब तक जीव उस पाश में बँधा रहेगा। पाश से बंधने के कारण ही यह मनुष्य पशु है, इससे मुक्त होने पर तो वह सदाशिव है – **पाशबद्धो पशुः प्रोक्ताः, पाशमुक्तः सदाशिवः**। घृणा, शंका, भय, लज्जा, जुगुप्सा, कुल, शील और जाति – ये आठ पाश हैं, जिनमें मनुष्य ने स्वयं अपना गला फँसा रखा है। **नाहं देहः** – "मैं देह नहीं हू", **नाहं ब्राह्मणः न क्षत्रियः** – "न मैं ब्राह्मण हूँ और न क्षत्रिय हूँ", आदि के स्थान पर – **शुद्धोऽहं निरंजनोऽहं निराकारोऽहं निर्विकल्पोऽहम्** – "मैं शुद्ध हूँ, मायामुक्त, त्रिगुणातीत हूँ, निरंजन, निराकार और निर्विकल्प हूँ" – जब इस प्रकार का सत्यज्ञान होगा तभी, वह नित्यसुख की अनुभूति कर सकता है –

देहाभिमानपाशेन चिरं बद्धोऽसि पुत्रक ।
बोधोऽहं ज्ञानखड्गेनतन्निष्कृत्य सुखी भव ।।
(अष्टावक्र-गीता)

– हे पुत्र, देहाभिमान के पाश से चिरकाल से बँधे होने के कारण दुःखी हो, मैं ज्ञानरूप हूँ – यह जानकर खड्ग से उस पाश को काटकर सुखी हो सकते हो। जिसका जन्म, कर्म, वर्ण, आश्रम, जाति आदि के कारण इस देह में अहंभाव नहीं है, वही श्रीहरि को प्रिय है। जिसकी सांसारिक सम्पत्तियों और दैहिक सम्बन्धों में – 'यह मेरा है, यह दूसरे का है' – ऐसी भेद-दृष्टि नहीं है, जो सभी प्राणियों के साथ सम-भाव तथा शान्त चित्त से व्यवहार करता है, वही श्रेष्ठ भक्त है –

न यस्य जन्मकर्मभ्यां न वर्णाश्रमजातिभिः ।
सज्जतेऽस्मिन्नहंभावो देहे वै स हरेः प्रियः ।।
न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदः ।
सर्वभूतसमः शान्तः स वै भागवतोत्तमः ।।
(श्रीमद्भागवत ११/२/५१-५२)

"मैं ब्राह्मण हूँ तू शुद्र है, मैं शुद्ध हूँ तू अशुद्ध है, मैं चक्रांकित दीक्षित हूँ, तू निगुरा है" – आदि कथन विवेकहीनता और पाखण्ड है।[१०] इन पर गुमान करनेवाला पामर है – **पामर करहिं गुमान**। तुलसी ने 'विनय-पत्रिका' में देहाभिमान को सुन्दर रूपक के माध्यम से चित्रित किया है। उन्होंने लिखा है शरीर में आसक्ति ही लंका है, जिसे मन-रूपी मय-दानव ने रचा है। सत्त्वादि त्रिगुण तीन सेनापति हैं। शरीराभिमान महासागर है; जो भंयकर, घोर, विपुल, अथाह, अपार दुस्तर है, जिसमें राग-द्वेष और कामना आदि अनेक घड़ियाल हैं और जिसमें आसक्ति तथा संकल्पों की लहरें उठ रही हैं –

कुणप अभिमान सागर भंयकर घोर
विपुल अवगाह, दुस्तर अपारम् ।
नक्र-रागादि-संकुल मनोरथ सकल
संग-संकल्प वीची विकारम् ।। १/१५८/३

देहाभिमान अपार महासागर है। शरीर देखने में भले ही छोटा है, पर उसके भीतर जो अभिमान है, वह अपार है। शरीर को नापा जा सकता है, पर उसके भीतर के अभिमान को नापना कठिन हैं।[११] देह सबको प्रिय है – **सब कै देह परमप्रिय स्वामी** और उसके प्रति ममता भी सबसे अधिक है। देह का आकर्षण ऐसा ही प्रबल होता है। देहासक्ति की लंका का स्वामी रावण मोह है, भाई कुम्भकर्ण अहंकार और पुत्र इन्द्रजयी मेघनाद विश्रामहारी काम है, **मोहदसमौलि, तद्भ्रात अहंकार, पाकारिजित काम विश्रामहारी**। मोह-अज्ञान, जिसके कारण ही अहंकार होता है। अहंकार रूपी सर्प के सत्त्व-रज-तम तीन मस्तक हैं, जिन्हें विवेक के खड्ग से काटा जा सकता है। मान, अहंकार, दर्प एवं दम्भ तमोगुण के परिणाम हैं। (१४/८; १३/१५-१७) इन्हें रजोगुण का भी चिह्न निरूपित किया है।[१२] अहंकार को इसलिये रजोगुण का धर्म माना है, क्योंकि वह आसक्तिमय है और आसक्ति अहंकार का मूल है। आसक्ति अज्ञानजन्य है और तमोरूप

१०. कबीर - डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी।
११. पं. रामकिंकर उपाध्याय - 'विवेक-ज्योति', १४/४, पृ. ३२
१२. अभिमानो मृषावादो लोभो मोहस्तथा क्षमा। लिंगानि रजसस्तानिवर्तन्ते हेत्वहेतुतः।। (महा., शान्ति. २४७-२४२)

है, जो ज्ञान को ढँककर प्रमाद उत्पन्न करता है। (१४/९)

सांख्य-दर्शन के सृष्टि के विकास-क्रम में अहंकार का महत्त्वपूर्ण स्थान है। त्रिगुणात्मक प्रकृति से महत्-तत्त्व की सृष्टि होती है। महत् त्रिगुणात्मक प्रकृति की वैषम्यावस्था है। पुरुष दशा में अव्यय से अक्षर और प्रकृति दशा में अहंकार का विकास होता है। महत् से अहंकार, अहंकार से पंच तन्मात्रायें, पंच महाभूत, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और चित्त का विकास निरूपित है। अहंकार से स्थावर-जङ्गमात्मक समस्त जगत् प्रादुर्भूत है। इसके समान दूसरा बन्धनकारी भी नहीं है –

अहंकारकृतं सर्वं विश्व-स्थावर-जङ्गमम्।
अहंकारवृतं सर्वं विश्व-स्थावर-जङ्गमम्।।
अहंकारोद्भवं सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम्।
अहंकाराद् बन्धकारी नान्योऽस्ति जगतीतले।।[१३]

अहंकार का मनोवैज्ञानिक पक्ष यह है कि जब मनुष्य की कुछ इच्छाएँ अपूर्ण रह जाती हैं और वह दमित वासनाओं का शिकार हो जाता है, तब वे अन्यथा अभिव्यक्त होती हैं। वह आत्महीनता से पीड़ित होकर ऐसा बनावटी व्यवहार करता है, जिससे वह श्रेष्ठ समझा जा सके। वह अपनी उदारता, विद्वत्ता और नैतिक गुणों की प्रशंसा करता है। एडलर के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में शक्ति प्राप्त करने की इच्छा (will to power) होती है वह आत्मस्थापन (self-assertion) का प्रयास करता है, किन्तु जब वास्तविक स्थितियों से संघर्ष करते हुए उसकी शक्ति-प्राप्ति की कामना को आघात लगता है, तब उसमें हीनता की ग्रन्थि बन जाती है। इस ग्रन्थि को छुपाने के लिये वह जो कपटपूर्ण व्यवहार करता है, उसमें अहंमन्यता का पूर्ण समावेश होता है। अहंमन्यता की क्षतिपूर्ति का ही एक प्रकार है और क्षतिपूर्ति के नियम का प्रतिपादन एडलर ने किया है। अहंकारी मनोरोगी है। उसमें 'अपमान-भ्रम' और ऐश्वर्य-भ्रम' (Delusion of persecution and grandeur) नामक मानसिक रोग है। इनका रोगी अपने सम्मान के लिये असाधारण रूप से सजग रहता है और हर समय उसे यह भ्रम होता है कि उसका अपमान किया जा रहा है। वह अपने को महान् तथा महान् उद्देश्यों के लिये ही अवतरित मानता है।[१४] उसमें संवेगों की अस्थिरता होती है आक्रामकता-जैसी प्रवृत्ति पनप जाती है। वह कु-समायोजित तथा विघटित व्यक्तित्व (Disorganised or disintegrated personality) वाला होता है। स्थितप्रज्ञ अथवा दैवी सम्पदाओं का धनी व्यक्ति का व्यक्तित्व सुघटित एवं एकीकृत (Organised and integrated) होता है।

अन्त:करण में मन, बुद्धि, चित्त और अंहकार का परिगणन होता है। ये सभी मन के ही विभिन्न स्तर हैं। मन संकल्प-विकल्पात्मक है, बुद्धि निश्चय करनेवाली है, चित्त चेतनात्मक है और जीव में इन्द्रियों की सर्वाध्यक्ष-भूता बुद्धि तथा मन को कार्यों की कर्तृत्व भावना जाग्रत करनेवाला अहंकार है। ज्ञान की प्रक्रिया में इन्द्रियाँ अपने बोध को मन तक पहुँचाती हैं, मन संकल्प करके अहंकार को प्रत्यय भेजता है और अहंकार अभिमान करके बुद्धि को निश्चय हेतु भेज देता है।[१५] इसकी निद्रा एवं स्मृति दो वृत्तियाँ हैं। यह तीन प्रकार का है, ज्ञानाभिमान सात्त्विक, कर्म एवं फल का अभिमान राजस तथा देहाभिमान तासम अहंकार है। तीन गुणों वाले पांचभौतिक तत्त्वों से निर्मित देह के मोह से उत्पन्न अभिमान देहाभिमान है। जिसने इसे जीत लिया है, उसके हृदयाकाश में परमात्मा का निवास होता है।[१६] मनुष्य की अपने प्रति, सम्बन्धियों के प्रति और सुख तथा ऐश्वर्य के साधनों के प्रति जो आसक्ति है, वह सभी देहाभिमान है; क्योंकि इनके साथ उसका मोह, देह के कारण और देह के रहते तक ही है।

मान, अतिमान, अभिमान, स्वाभिमान, सम्मान, बहुमान आदि शब्दों के मूल में मान तो बैठा ही है, ऊपर से उपसर्ग भी लगे हैं। मान, सम्मान और बहुमान में यदि मान दूसरों के द्वारा दिया जाता है; तो अतिमान, अभिमान और स्वाभिमान में स्वयं मान प्राप्त करने की चेष्टा की जाती है। व्यक्ति अपने कार्यों के द्वारा मान प्राप्त करता है। समाज उसका नहीं, वरन् उसके कार्यों का मूल्यांकन करता है, उन्हें जब अपने लिये हितकर समझता है, तब वह प्रतीक रूप में कर्ता को बहुमान देता है, पर जब व्यक्ति उसे अपना मानकर स्वयं को उसका वास्तविक अधिकारी समझ लेता है और उसकी अपेक्षा करने लगता है, तब वही भाव विकृत होकर अतिमान या अभिमान में परिणत हो जाता है। स्वाभिमान अच्छा भाव है, हर व्यक्ति में होना चाहिये। स्वाभिमान के बिना आत्मा जाग्रत नहीं होती और मृत-चेतना जिजीविषा, स्वत्व की संरक्षा की भावना और रचना की अभिप्रेरणा नहीं हो सकती, किन्तु स्वाभिमान और अतिमान के बीच पानी की लकीर है। वह कब मिट जाय और कब स्वाभिमान अतिमान का रूप ग्रहण कर ले, नहीं कहा जा सकता। चूँकि अतिमानी में मानसिक विकृतियाँ होती है और वह विनाश की विभीषिका से ग्रस्त होता है, अत: वह विध्वंस की ओर ही प्रवृत्त होता है, जिसके लिये वह अपमानित-प्रताड़ित होकर शीघ्र नष्ट हो जाता है।

❖ (क्रमश:) ❖

१३. देवी भागवत – "महाभारत और पुराणों में सांख्य-दर्शन" – रामसुरेश पाण्डेय, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, १९७२ उद्धृत।
१४. 'प्रतीकवाद' – डॉ. पद्मा अग्रवाल

१५. बाह्येन्द्रियाणि आलोच्य मनसे समर्पयन्ति, मनश्च संकल्प्य अहंकाराय, अहंकारश्च अभिमत्य बुद्धौ सर्वाध्यक्षभूतायाम्।। (सांख्य-तत्त्व-कौमुदी)
१६. यस्यैते निर्जिता लोके त्रिगुणा: पंच-धातव:।
व्योम्नि तस्य परं स्थानमामनन्त्यथ लभ्यते।। (महा., आश्व., ४२.५७)
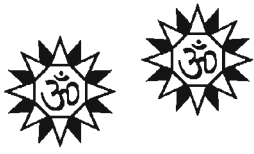
पातञ्जल-योगसूत्र-व्याख्या (४)
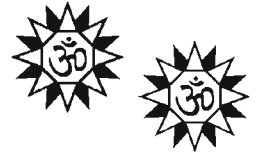
स्वामी प्रेमेशानन्द

(माँ श्री सारदा देवी के वरिष्ठ शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी ने १९६२ ई. के फरवरी माह में अपनी अस्वस्थता के दौरान वाराणसी में अपने सेवक को पातञ्जल योगसूत्र पढ़ाया था। इनके पाठों को सेवक एक नोटबुक में लिख लेते थे। बाद में सेवक – स्वामी सुहितानन्द जी ने उन पाठों को सुसम्पादित कर एक बँगला ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कराया। 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ पातञ्जल योग जैसे गूढ़ विषय पर इस सहज-सरल व्याख्या का हिन्दी अनुवाद रायपुर आश्रम के स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने किया है। – सं.)

ईश्वर प्रणिधानाद् वा ।।२३ ।।

ईश्वर की भक्ति करने से भी समाधि की प्राप्ति होती है।

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।।२४ ।।

दु:ख, कर्म, कर्मफल या वासना द्वारा स्पर्शशून्य पुरुष-विशेष को ईश्वर कहते हैं।

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञ बीजम् ।। २५ ।।

उनमें अनन्त सर्वज्ञता के बीज विद्यमान रहते हैं।

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।। २६ ।।

वे ईश्वर प्राचीन गुरुओं के भी गुरु हैं। क्योंकि वे काल के द्वारा सीमा-बद्ध नहीं हैं।

तस्य वाचकः प्रणवः ।।२७ ।।

'ओंकार' उनका वाचक, प्रकाशक शब्द है।

तज्जपस्तदर्थभावनम् ।।२८ ।।

उस ओंकार के जप करने से एवं उसके अर्थ का चिन्तन एवं ध्यान करने से समाधि होती है।

ततः प्रत्यक्-चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ।।२९ ।।

उससे अन्तर्दृष्टि मिलती है तथा योग के विघ्न दूर हो जाते हैं।

व्याख्या – योगी-सम्प्रदाय के प्रवर्तक महर्षि कपिल बहुपुरुषवादी थे। किन्तु योगसूत्र के प्रणेता पतंजलि एकेश्वरवादी थे। उन्होंने कहा है – सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, नित्यमुक्त एवं मानव-जाति के आदि गुरु ईश्वर का चिन्तन करते-करते भी मनुष्य को समाधि हो सकती है। उनका (ईश्वर का) चिन्तन करने के लिये, ऐसे एक पुरुष का चिन्तन करते हुये 'ओंकार' का जप करना होगा। बहुत दिनों तक ऐसा करने से जीवात्मा या क्षेत्रज्ञ अथवा क्षर-पुरुष का ज्ञान होता है। उसके परिणामस्वरूप निर्वाण-पथ पर अग्रसर होने में और कोई बाधा नहीं रहती। श्रीरामकृष्णदेव का काली के रूप में भगवान का साक्षात्कार करना ही 'प्रत्यक् चेतनाधिगम्' है। तोतापुरी के उपदेश से मन को काली से ऊपर उठाकर, श्रीरामकृष्ण अनायास ही कैवल्य प्राप्त किये थे।

व्याधि-स्त्यान-संशय-प्रमादालस्या विरति-भ्रान्तिदर्शनालब्ध-भूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ।।३०।।

व्याधि, जड़ता, संशय, प्रमाद, आलस्य, विषय-तृष्णा मिथ्या अनुभव, एकाग्रता का अभाव अथवा एकाग्रता प्राप्त करके भी उससे पतित होना अर्थात् पुन: चंचल हो जाना, ये सब चित्त-विक्षेप के अन्तराय (विघ्न) हैं।

दुःखदौर्मनस्यङ्गमेजयत्व-श्वास-प्रश्वासाविक्षेपसहभुवः ।।३१।।

दु:ख, मानसिक अवसाद, शारीरिक अस्थिरता, अनियमित श्वास-प्रश्वास – ये सब एकाग्रता के अभाव के साथ-साथ उत्पन्न होते हैं।

तत्प्रतिषेधार्थमेक तत्त्वाभ्यासः ।।३२।।

इन विक्षेपों की निवृत्ति हेतु एक तत्त्व का अभ्यास करना आवश्यक है।

मैत्री-करुणा-मुदितोपेक्षाणां सुख-दुःखपुण्यापुण्य-विषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ।।३३।।

सुख-दुख, पुण्य और पाप इन भावनाओं के प्रति यथाक्रम मैत्री, करुणा, आनन्द और उपेक्षा की भावना करने से चित्त प्रसन्न होता है।

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ।।३४।।

नियमानुसार रेचक और कुम्भक करने पर भी चित्त, मन स्थिर होता है।

व्याख्या – यह सृष्टि जड़ समुद्र है। इसमें हमलोगों का अर्थात् सभी जीवों का, शरीर-मन एक-एक, भँवर है। शरीर और मन में बाह्य जगत का सम्बन्ध सदा ही रहा है। इसके कारण सर्वदा ही साधना में विघ्न की आशंका बनी रहती है। देह-बोध रहते त्रिताप से मुक्ति असम्भव है। इसलिये महर्षि पतंजलि साधकों को इस सम्बन्ध में सावधान रहने का उपदेश दे रहे हैं। इन सभी विघ्नों के निवारण के लिये 'इष्ट' में मन को संलग्न करना, एकाग्र करना ही इनसे निवृत्ति का उपाय है।

पुन: पूर्व स्वाभाववश बाह्यजगत के आघात से विभिन्न प्रकार के विचार जब मन को चंचल कर देते हैं, तब उसके विपरीत विचारों द्वारा उनका निरोध करना होगा। यदि उससे भी मन की चंचलता न रुके, तब प्राणायाम के द्वारा मन की चंचलता को नियन्त्रित करना होगा।

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः

स्थितिनिबन्धिनी ।।३५।।

समाधि में जो अलौकिक इन्द्रिय अनुभव होते हैं, उससे भी मन स्थिर होता है, मन की चंचलता दूर होती है।

विशोका वा ज्योतिष्मती ।।३६।।

दु:खरहित ज्योतिर्मय वस्तु के ध्यान करने से चित्त स्थिर होता है।

व्याख्या – बहुत दिनों तक योगाभ्यास करते-करते अपने भीतर एक विशेष शक्ति प्रकाशित होती है। उससे कभी-कभी अतिन्द्रिय अनुभूति होती है। तब मन में बहुत उत्साह आता है और ध्यान करने की तीव्र इच्छा, उत्कण्ठा होती है। मन एकाग्र होने पर कभी-कभी विभिन्न प्रकार की ज्योति के दर्शन भी होते हैं। उससे साधक का बहुत उत्साहवर्धन होता है। स्वामी विवेकानन्द जी इसे – 'Milestone of Progeress' (प्रगति का सूचक) 'मील का पत्थर' कहते हैं। यह ध्यान और समाधि में प्रगति करने का संकेत है।

वीतरागविषयं वा चित्तम् ।।३७।

जिस व्यक्ति ने अपने हृदय से इन्द्रियों के प्रति आसक्ति को सम्पूर्ण रूप से त्याग कर दिया है, वैसे पवित्र हृदयात्मा व्यक्ति के ध्यान के द्वारा भी चित्त स्थिर होता है।

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ।।३८।।

स्वप्न में या निद्रा में जो अलौकिक ज्ञान प्राप्त होता है, उसके ध्यान करने से भी चित्त-मन स्थिर होता है।

यथाभिमतध्यानाद् वा ।।३९।।

अथवा जो वस्तु श्रेष्ठ प्रतीत हो, उसका ध्यान करने से भी मन स्थिर होता है।

व्याख्या – सब प्रकार से मन को एकाग्र करने का उपाय ही महर्षि पतंजलि बता रहे हैं। किसी सर्वत्यागी सिद्ध पुरुष के पवित्र चित्त, हृदय की अवस्था का चिन्तन करने से सहज ही मन स्थिर हो जाता है। कभी-कभी हमलोग स्वप्न में किसी देव-देवी अथवा किसी महापुरुष का दर्शन किये रहते हैं। उसके चिन्तन से भी मन स्थिर हो जाता है। सुषुप्ति में हमारा दृष्य जगत पूर्णत: विलुप्त हो जाता है। उस समय हम लोग माया-मोह से मुक्त हो जाते हैं। इस अवस्था के चिन्तन से भी मन की चंचलता दूर होती है। कोई-कोई किसी वस्तु या व्यक्ति के ऊपर अत्यधिक आकर्षण का अनुभव करते हैं। उसी वस्तु या व्यक्ति के ऊपर मन को स्थिर करने से सहज ही समाधि हो जाती है।

मणि मल्लिक की पुत्री नन्दिनी अपने भतीजे का चिन्तन करके भाव समाधि को प्राप्त की थी। एक कहावत है कि एक गुरु ने शिष्य को मूर्ख-मन्त्र दिया था। शिष्य भेड़ा का ध्यान करके समाधिस्थ हो गया था।

परमाणु-परम महत्त्वान्तोऽस्य वशीकार: ।।४० ।।

इस प्रकार ध्यान करते-करते परमाणु से लेकर विशालतम पदार्थ तक, सभी विषयों में सबकी धारणा करने में मन समर्थ होता है।

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहण-ग्राह्येषु तत्स्थ-तदञ्जनता समापत्ति: ।।४१ ।।

जिस प्रकार स्वच्छ स्फटिक विभिन्न रंगों के वस्तुओं के निकट रहने पर उसी-उसी वस्तु के रंग और आकार को ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार योगी का चित्त भी आत्मा, मन और बाह्य वस्तुओं में एकाग्र होने पर उसके साथ एकीभाव को प्राप्त होता है, उसके साथ एकाकार हो जाता है।

व्याख्या – मन को एकाग्र करते-करते इस प्रकार की शक्ति आती है कि जिस विषय पर, जब भी साधक मन को एकाग्र करना चाहेगा, वह इच्छामात्र से ही वैसा करने से समर्थ हो जायेगा। उस समय जिस प्रकार अत्यन्त सूक्ष्म विषय में (जैसे श्रीरामकृष्णदेव के आध्यात्मिक अवस्थाओं का चिन्तन) मन स्थिर होगा, उसी प्रकार अत्यन्त विराट, विशाल वस्तु (जैसे-आकाश, समुद्र हिमालय) की धारणा करने से, उसका चिन्तन करने से भी मन स्थिर होगा।

इस अवस्था का एक उदाहरण द्रष्टव्य है – अत्यन्त निर्मल, स्वच्छ मणि के समीप किसी वस्तु को रखने पर, मणि और वस्तु को एक ही रंग से रंजित देखा जायेगा। ऐसा प्रतीत होगा कि वह वस्तु मणि में ही है। जैसे एक काँच के टुकड़े के निकट एक रक्तजवा पुष्प को रखने पर, काँच का रंग लाल दिखने लगता है तथा ऐसा लगता है कि यह फूल मानो इस काँच के भीतर ही है। मन की अत्यधिक एकाग्रता के कारण मन रूपी काँच ध्येय वस्तु में रंजित हो जाता है, अर्थात् तदाकाराकारित हो जाता है। ध्येय और ध्याता का मन दोनों दो वस्तु हैं ऐसा बोध नहीं होता। ऐसा लगता है, दोनो मिलकर एक हो गये हैं।

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पै: संकीर्णा सवितर्का समापत्ति: ।।४२।।

जिस समाधि में शब्द, अर्थ और ज्ञान मिश्रित रहते हैं, उसे सवितर्क समाधि कहते हैं।

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्र निर्भासा निर्वितर्का ।।४३।।

जिस समाधि से स्मृति शुद्ध हो जाती है और ध्येय वस्तु के अर्थ को प्रकाशित करती है, उसे निर्वितर्क समाधि कहते हैं।

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ।।४४।।

पूर्व के दो सूत्रों द्वारा सविचार और निर्विचार समाधि एवं उनके सूक्ष्म विषयों की भी व्याख्या की गई।

❖ (क्रमश:) ❖
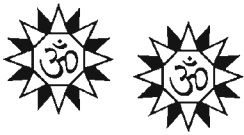
ईश्वरप्राप्ति का मार्ग (२)

स्वामी रामकृष्णानन्द

(प्रस्तुत लेख चेन्नई के रामकृष्ण मठ द्वारा प्रकाशित एक लघु पुस्तिका Path to Perfection का हिन्दी रूपान्तरण है । श्रीरामकृष्ण के साक्षात् शिष्य स्वामी रामकृष्णानन्द जी द्वारा लिखित इस लेख का अनुवाद रायपुर आश्रम के ही ब्रह्मचारी जगदीश ने किया है । – सं.)

(पिछले अंक का शेषांश)

ईश्वर की परिभाषा हम आनन्द के रूप में करते हैं। ऐसा कोई भी नास्तिक नहीं मिलेगा, जो आनन्द न चाहता हो और वह आनन्द ही है ईश्वर। आनन्द से ही सृष्टि का उद्भव हुआ, आनन्द में ही इसकी स्थिति है और आनन्द में ही उसका लय होगा। ईश्वर से ही हमारी तथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई है, ईश्वर में ही हमारा निवास है और ईश्वर में ही हम विलीन हो जायेंगे। इस प्रकार आनन्द तथा ईश्वर पर्यायवाची शब्द हुये। अत: कोई भी व्यक्ति स्वयं को नास्तिक नहीं कह सकता, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति आनन्द में विश्वास रखता है और यह आनन्द ही ईश्वर है। वस्तुत: प्रत्येक व्यक्ति आनन्द की खोज में है, मगर प्रश्न है कि तुम किस तरह का आनन्द चाहते हो? – अखण्ड आनन्द। कुछ मात्रा में तुम इस क्षणिक आनन्द को ले सकते हो, क्योंकि यह तुम्हें थोड़ा सुख देता है और तुम सुख ही तो चाहते हो; किन्तु तुम्हारा आदर्श है – कभी समाप्त न होनेवाला शाश्वत आनन्द।

अखण्ड, शाश्वत आनन्द को 'ईश्वर' कहते हैं और अस्थायी, खण्डित आनन्द को विषयानन्द कहा जाता है। तुम कुछ पलों के लिये क्षणिक सुख का आस्वादन करने हेतु सीमित विषयानन्द से सन्तुष्ट हो सकते हो; परन्तु तुम्हारा आदर्श है अखण्ड और शाश्वत आनन्द का उपभोग करना। वह व्यक्ति जो बड़ी हड़बड़ी में भोजन करता है, दफ्तर की ओर भागता है और दिन भर कड़ा परिश्रम करता है; वह वस्तुत: आनन्द की ही खोज करता है और उसका मानना है कि उस शुद्ध आनन्द को वह धन कमाकर प्राप्त कर सकता है। वहीं दूसरी ओर वह व्यक्ति, जो किसी कोने में बैठा हुआ अपने मन को एकाग्र कर रहा है, अपने परिवेश को भूलने की चेष्टा कर रहा है, अपने भीतर ईश्वर की उपलब्धि की चेष्टा कर रहा है; वह व्यक्ति भी अपनी धारणा के अनुरूप आनन्द-प्राप्ति की चेष्टा में लगा हुआ है।

आइये, हम इन दोनों पद्धतियों पर विचार करें। इनमें से एक धन का आकांक्षी है; क्योंकि धन उसे एवं उसके परिवार के लिये सुविधा तथा सुख के साधन जुटायेगा। अत: वह धन कमाने की चेष्टा करता है, क्योंकि उसका विश्वास है कि धन की शक्ति से वह प्रकृति को अपनी सारी इच्छाओं की पूर्ति हेतु विवश कर सकेगा। परन्तु यह विधि पूर्णत: निराधार है। वह धन प्राप्त कर सकता है, परन्तु इस धन से प्राप्त भोजन तथा अन्य सुविधाओं के सुख-भोग में नितान्त असमर्थ भी हो सकता है। कलकत्ते में एक ऐसे करोड़पति थे, जो केवल जौ के पानी का ही सेवन कर पाने में समर्थ थे और इस दृष्टि से अपने निम्नतम स्तर के कर्मचारी की अपेक्षा भी कम सुखी थे। फिर यदि व्यक्ति के पास सम्पत्ति है, तो भी वह आखिर कब तक उसका उपभोग कर सकेगा? – तभी तक न, जब तक कि शरीर है। हम सभी जानते हैं कि संसार में जीवन कितना क्षणभंगुर है। चाहे कोई पालने का शिशु हो; अथवा युवा, वृद्ध, धनी या निर्धन – कोई भी क्षण उसकी मृत्यु का क्षण हो सकता है। जब हम स्वयं का शरीर से तादात्म्य करते हैं, तो ऐसा विश्वास करते हैं कि शरीर-मन को सन्तुष्ट करके ही हम सन्तुष्ट हो जायेंगे, तब हम समझ सकते हैं कि हमारा यह सुख कितना क्षणिक है।

प्रत्येक व्यक्ति को छह अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है। सर्वप्रथम शिशु गर्भ में था, इसलिये वह वहाँ से संसार में आता है। शिशु का जन्म होने के बाद उसे बढ़ते रहना होगा, अत: उसे सब तरह के परिवर्तनों से गुजरना होगा। पहले वह एक तरुण बनेगा, फिर युवक और फिर प्रौढ़ मनुष्य। उसके बाद क्या होगा? क्रमश: शरीर का क्षय। दृष्टि क्षीण हो जायेगी, सुनने की शक्ति घट जायेगी, हाथ-पैरों का लचीलापन जाता रहेगा, स्मृति घटने लगेगी। यही है प्रत्येक जीवित प्राणी का जीवन-इतिहास और ऐसा प्राणी जो देहबद्ध हो, जिसका मन संशयग्रस्त हो, वह किस प्रकार एक शाश्वत जीवन की अपेक्षा कर सकता है?

तथापि कोई भी मनुष्य मरना नहीं चाहता। मनुष्य के लिये मृत्यु से अधिक घृणास्पद कोई अन्य वस्तु नहीं है, परन्तु यदि जीवन का तात्पर्य मात्र इतना ही हो, तो मनुष्य मृत्यु से बच नहीं सकता, इसलिये वह सुखी होने की आशा भी नहीं कर सकता है। लेकिन जीवन की परिभाषा क्या है? जीवन का अर्थ है अस्तित्व – होना। मृत्यु का अर्थ है – अनस्तित्व – न होना। हम जानते हैं कि अस्तित्व से कभी अनस्तित्व उत्पन्न नहीं हो सकता और अस्तित्व कभी अनस्तित्व नहीं बन सकता, अत: जीवन कभी मृत्यु में परिवर्तित नहीं हो सकता और न ही मृत्यु जीवन में। अतएव यदि मनुष्य जीवित है, तो वह मर नहीं सकता। पर ऐसा जीवन जो मृत्यु में परिवर्तित न होता हो, वह कहाँ प्राप्त करेगा? उस अमर जीवन की प्राप्ति के लिये उसे देह के परे जाना होगा और यदि वह देह के परे जाता है, तो सम्पूर्ण विश्व के परे जाना होगा, क्योंकि तुम्हारे इस क्षुद्र अहं पर ही समस्त विश्व

अवलम्बित है। नेत्रों पर रूप-जगत् टिका है, कानों पर ध्वनि -जगत् टिका है और जिह्वा से सारा रस-जगत् सत्तावान है।

निद्रावस्था का विश्लेषण इस बात को बड़ी सरलता से प्रमाणित कर देगा। जब तक आँखें देख सकती हैं, तब तक तुम्हारे लिये रूप का अस्तित्व है; जब तक नासिका में घ्राण शक्ति है, तब तक तुम्हारे लिये गन्ध का अस्तित्व है; जब तक कानों में सुनने की शक्ति है, तब तक तुम्हारे लिये ध्वनि का अस्तित्व है और हर इन्द्रिय के साथ ऐसा ही है। अच्छा, इस प्रकार जब तुम अपने नेत्रों, कानों तथा अन्य सभी इन्द्रियों में विद्यमान हो, तो फिर जाग्रत अवस्था क्या है? फिर एक विचार की अवस्था होती है, जब तुम अपने मन में विद्यमान रहते हो। लेकिन एक ऐसी अवस्था भी है, जब तुम अपनी इन्द्रियों से दूर चले जाते हो, जब तुम अपने मन से दूर चले जाते हो और उसी अवस्था का नाम है – सुषुप्ति या प्रगाढ़ निद्रा। तब यदि कोई मित्र तुम्हारे पास आकर कोई मधुर गीत गुनगुनाता है, तो तुम नहीं सुन पाते, क्योंकि तुम अपने कानों में नहीं हो। नि:सन्देह तुम अपनी देह में विद्यमान रहते हो, मगर कानों या किसी अन्य इन्द्रिय में नहीं रहते। इस अवस्था में यद्यपि तुम अपने मन एवं इन्द्रियों से दूर हो, तथापि अपनी देह में ही विद्यमान हो; क्योंकि मैं यदि तुम्हें जोर का धक्का दूँ, तो तुम जाग पड़ते हो। इस जाग पड़ने का क्या तात्पर्य है? तुम अपने मन में लौट आते हो, इन्द्रियों में लौट आते हो। जब तुम गाढ़ी निद्रा में थे, तो तुम्हारी पत्नी तुम्हारे बगल में ही थी, पर तुम्हें इसका भान न था; इसी प्रकार तुम्हें अपने आस-पास की प्रत्येक वस्तु तथा सम्पूर्ण विश्व का भी भान नहीं था। अत: समस्त विश्व के अनुभवात्मक अस्तित्व के लिये तुम्हारा अपने मन तथा इन्द्रियों में उपस्थित रहना अनिवार्य शर्त है। जब तुम गाढ़ी निद्रा में थे, तब क्या तुम्हारे लिये किसी विश्व का अस्तित्व था? क्या उसके अस्तित्व-विषयक जरा भी स्मृति तुममें शेष थी? नहीं! अत: यद्यपि यह क्षुद्र शरीर नश्वर दीख पड़ता है और यह नश्वर है ही, किन्तु यही वह आधार है, जिस पर सम्पूर्ण विश्व आश्रित है। अत: इस जगत् से परे जाने के लिये तुम्हें अपने मन तथा इन्द्रियों के परे जाना होगा और जब तुम ऐसा कर लोगे, तब तुम्हें शाश्वत जीवन प्राप्त हो जायेगा। इसी विधि के द्वारा तुम्हारे पूर्वजों ने अपने शाश्वत स्वरूप की अनुभूति की थी। उन्होंने अपनी बाह्य इन्द्रियों एवं आन्तरिक इन्द्रिय अर्थात् मन के परे जाकर ऐसी अनुभूति प्राप्त की थी। यदि तुम ऐसा कर सको, तो तत्काल ही तुम अपने शाश्वत जीवन की अनुभूति कर लोगे। तब तुम अविच्छिन्न आनन्द – ब्रह्मानन्द प्राप्त कर लोगे। इसी को मुक्त अवस्था कहते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक विधि तुम्हें विनाश की ओर ले जाती है, जबकि दूसरी विधि लक्ष्य तक पहुँचाती है। जिस विधि का तुम अनुसरण कर रहे हो – धन कमाना आदि – यह एक गलत विधि है, क्योंकि इस तरह तुम अपनी देह की ही पूजा कर रहे हो। इस तरह देह ही तुम्हारा एकमात्र ईश्वर हो जाता है, जिसकी तुम पूजा किया करते हो; चूँकि तुम इस देह-रूपी ईश्वर के पूजक हो, इसीलिये तुम अपनी पत्नी से प्रेम करते हो; सुस्वादु व्यंजनों, मनोहारी दृश्यों, कर्णप्रिय ध्वनियों आदि से प्रेम करते हो। यद्यपि किसी मालिक का कार्य करने पर तुम्हें कुछ मजदूरी मिलने की आशा रहती है, परन्तु देह-रूपी तुम्हारा यह ईश्वर तुम्हारे सेवा-कार्यों का क्या फल देता है? वह तुम्हें मृत्यु की ओर ले जाता है, जिससे तुम घृणा करते हो। तुम इस देह-रूपी स्वामी की अनेक जन्मों से सेवा करते आये हो और हर बार उसने तुम्हें मृत्यु से पुरस्कृत किया है। अत: यह कोई सच्ची सेवा नहीं हो सकती। यदि तुम यथार्थ सेवा देना चाहो, ताकि तुम्हें यथार्थ पुरस्कार प्राप्त हो, तो सच्चे ईश्वर की सेवा करो। इससे तुम शाश्वत जीवन प्राप्त करोगे।

सेवा का मार्ग बाहर की ओर नहीं, बल्कि भीतर की ओर है। शाश्वत जीवन की अनुभूति का मार्ग तुम्हें बहिर्मुखी शक्तियों की अपेक्षा अन्तर्मुखी शक्तियों से कार्य लेने को प्रेरित करता है। तुम्हें अपनी शक्तियों का संग्रह करके उन्हें अन्तर्मुखी करना होगा। जब तक तुम ऐसा नहीं करते, तब तक तुम निरे पशु से जरा भी बेहतर नहीं हो। यथार्थ जीवन तुम्हारे भीतर है, बाहर नहीं! किन्तु उसे प्राप्त करने हेतु तुम्हें कठोर परिश्रम करना पड़ेगा। तुम अचानक ही सच्चे ईश्वर की पूजा आरम्भ नहीं कर सकोगे, क्योंकि इतने जन्मों से तुम्हें इस देह-रूपी ईश्वर की पूजा का ही अभ्यास है। अपने मन पर विजय पाने की तुलना में समस्त संसार पर विजय प्राप्त करना सरल है। यही कारण है कि अर्जुन जैसे महान् योद्धा को भी यह स्वीकार करना पड़ा कि यद्यपि उन्होंने अनेक साम्राज्यों पर विजय प्राप्त किया था, परन्तु वे अपने मन को वश में करने में अशक्त हैं। क्यों? नि:सन्देह अर्जुन एक शूरवीर थे, परन्तु उन्हें मन को वश में करने का अभ्यास नहीं था, इसीलिये उन्होंने स्वयं को शक्तिहीन अनुभव किया। हम सब भी अर्जुन की तरह हैं। परन्तु इसी जीवन में शाश्वत स्वरूप की अनुभूति के लिये तुम्हें इसी मार्ग पर चलना होगा। **नान्यः पन्था विद्यते अयनाय** – मुक्ति प्राप्त करने का इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है।

इस प्रकार तुमने देखा कि संसार का सबसे अधिक सुखी, समृद्ध तथा शक्तिमान मनुष्य बनने का मार्ग ढूँढ़ लिया गया है। तो फिर अब आवश्यकता किस चीज की है? – इच्छा की। जब तक तुम्हारे मन में मार्ग पर चलने की इच्छा नहीं है, तब तक मार्ग-विषयक जानकारी निरर्थक है। भले ही तुम सभी तरह के श्रेष्ठ व्यंजनों की पाकविद्या के जानकार हो, किन्तु जब

तक तुम भण्डार में जाकर उनमें से कुछ व्यंजन बना नहीं लेते, तब तक तुम्हारा वह ज्ञान अनुपयोगी ही रहा। अत: केवल यह जान लेना कि मार्ग तुम्हारे भीतर ही है, तुम्हारी सहायता नहीं कर सकेगा। तुम्हें कठोर परिश्रम करके वहाँ पहुँचना होगा। इस प्रकार धर्म एक परम व्यावहारिक वस्तु है। उसका वाद-विवाद तथा सिद्धान्तों से कोई सम्बन्ध नहीं। ये सब तभी तक हैं, जब तक तुममें मार्ग पर चलने की इच्छा बलवती नहीं होती। भले ही तुम निरक्षर भट्टाचार्य क्यों न होओ, पर ईश्वर साक्षात्कार की तीव्र इच्छा रहने पर तथाकथित किसी विद्यार्जन के बिना ही तुम अन्तर्यात्रा कर ईश्वर तक पहुँच सकोगे। तब अति उच्चकोटि का विद्वान् भी आकर तुम्हारे चरणों तले बैठेगा। भगवान श्रीरामकृष्ण प्राय: निरक्षर थे। वे ठीक तरह से पढ़ना-लिखना नहीं जानते थे, तथापि श्रेष्ठतम विद्वान् भी अपने संशयों का निराकरण करने उनके पास जाया करते थे। वे ऐसा कर पाने में कैसे समर्थ हुए? इसलिये कि उनमें ईश्वरानुभूति की इच्छा अत्यन्त तीव्र थी और उन्होंने ईश्वर का साक्षात्कार किया था। व्यक्ति मात्र किताबें पढ़कर अथवा परीक्षाएँ पास करके ही ज्ञानार्जन कर सकता है – उनका जीवन इस दृष्टिकोण का दृढ़तापूर्वक प्रतिवाद करता है। ज्ञानार्जन विषयक यह अति क्षुद्र विचार है। जीवन भर संघर्ष के बाद भी वस्तुत: तुम कुछ नहीं जान पाते। सुकरात, मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी थे, क्योंकि उन्हें इस बात का ज्ञान था कि वे कुछ नहीं जानते।

ऐसा व्यक्ति न केवल स्वयं ईश्वर के दर्शन करता है, अपितु दूसरों को भी ईश्वर दर्शन करा सकता है। स्वामी विवेकानन्द अपनी किशोरावस्था में निरन्तर ऐसे व्यक्ति की खोज में रहते थे, जो कह सके कि उसने ईश्वर के दर्शन किये हैं। वे कहते थे – "इसके बिना मैं कैसे मान लूँ कि ईश्वर हैं?" जब कभी वे किसी उच्च-कोटि के साधु या गुरु के विषय में सुनते, तो जाकर उनसे पूछते कि क्या ईश्वर हैं? यदि वे उत्तर देते – 'हाँ' – तब वे दूसरा प्रश्न करते कि क्या आपने उन्हें देखा है? इसका नकारात्मक उत्तर मिलने पर वे लौट जाया करते। उन्हें कहीं भी ऐसा व्यक्ति नहीं मिला, जो कह सके कि उसने ईश्वर के दर्शन किये हैं, अतएव वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ईश्वर कल्पना का विषय मात्र है। तब एक दिन वे दक्षिणेश्वर के इन सन्त – इन निरक्षर आत्मद्रष्टा ज्ञानी के पास पहुँचे और उनसे पूछा – "क्या आपने ईश्वर को देखा है?" श्रीरामकृष्ण ने तत्काल कहा – 'हाँ'। – "क्या आप मुझे उनके दर्शन करा सकते हैं?" भगवान श्रीरामकृष्ण ने अविलम्ब उत्तर दिया – "अवश्य।" अन्त में स्वामीजी सन्तुष्ट हुये और यही कारण है कि अपने ग्रन्थों में वे बारम्बार इस बात पर बल देते हैं कि धर्म तत्त्वों की अनुभूति में है। वस्तुत: धर्म सर्वतोभावेन अनुभूति का विषय है।

तुम्हें ईश्वर का दर्शन करना ही है, परन्तु इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये तुम्हें कठोर परिश्रम भी करना पड़ेगा। प्रथमत: तो तुम इतने जन्मों से नकली ईश्वर की पूजा करते हुये जिन आदतों के वशीभूत हो गये हो, उन पुरानी आदतों पर तुम्हें विजय प्राप्त करनी होगी। तुम्हें अपने मन तथा इन्द्रियों को जीतना होगा। जब तक ईसा की तरह तुम भी इस देह तथा इन्द्रियों को सूली पर नहीं चढ़ा देते, तब तक उन्नति की आशा नहीं कर सकते – तुम स्वयं को इस मृत देह से ऊपर नहीं उठा सकोगे। यदि तुम स्वयं को (आत्मा के स्तर तक) उठाना चाहते हो, तो तुम्हें अपनी इन्द्रियों को जीतना होगा और देह का मोह छोड़ना होगा। यह प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। श्रीरामकृष्ण इसके लिये हमें सर्वश्रेष्ठ साधन प्रदान करते हैं। वे कहते हैं कि यदि तुम अपनी इन्द्रियों पर विजय चाहते हो, तो तुम्हें ईश्वर को अपना लक्ष्य बनाना होगा। यदि तुम सौन्दर्य-प्रेमी हो, तो ईश्वर से बढ़कर सौन्दर्य तुम्हें अन्यत्र कहाँ मिलेगा। यदि तुम्हें वाग्मिता से प्रेम है, तो तुम्हें इन ईश्वर से महान् वक्ता और कौन मिलेगा, जिनसे कि सारे वेद प्रकट हुए हैं? यदि तुम शक्ति के प्रेमी हो, तो ईश्वर से बढ़कर शक्तिमान और कौन हो सकता है? प्रत्येक व्यक्ति इन विभूतियों में से किसी-न-किसी से प्रेम करता है और ईश्वर में ये सभी असीम मात्रा में विद्यमान हैं। यदि तुम किसी सुन्दर युवती से प्रेम करते हो, तो उसका सौन्दर्य कुछ काल ही टिकनेवाला है, जबकि ईश्वर का सौन्दर्य शाश्वत है। अत: यदि तुम शाश्वत सौन्दर्य, अनन्त जीवन, पूर्ण शक्ति तथा ज्ञान के आकांक्षी हो, तो तुम्हें ईश्वर को प्राप्त करना पड़ेगा। पर ईश्वर को प्राप्त करने के लिये तुम्हें धन की जरूरत नहीं होगी, तुम्हें कोई टिकट नहीं खरीदना पड़ेगा। उनके पास जाने के लिये तुम्हें पैरों की, उन्हें देखने के लिये नेत्रों की और उन्हें सुनने के लिये तुम्हें कानों की जरूरत नहीं होगी। वे तुम्हारे भीतर ही हैं और उन तक पहुँचने के लिये तुम्हें इन सबको शान्त कर देना पड़ेगा। उन्हें देखने के लिये अपने नेत्र बन्द कर लेने पड़ेंगे, उन्हें सुनने के लिये तुम्हें अपने कानों को बन्द कर लेना पड़ेगा और उन तक पहुँचने के लिये तुम्हें अपने सभी बाह्य क्रिया-कलापों को छोड़ देना होगा।

इन संकेतों का आश्रय लेकर, अन्तर्मुखी बनो और ईश्वर की अनुभूति प्राप्त करो। केवल तभी तुम एक सच्चे मनुष्य कहलाओगे। परन्तु ऐसा करने के लिये तुममें तीव्र इच्छा होनी चाहिये। यदि एक बार तुम उनके साथ के अपने असल सम्बन्ध को स्वीकार कर सको कि वे ही तुम्हारे यथार्थ माता-पिता, बन्धु तथा सखा हैं; और उनकी उपलब्धि कर सको, तो तुम अपने श्रम का अनन्त-गुना फल प्राप्त कर सकोगे, क्योंकि वे तुम्हारे योगक्षेम का वहन करने हेतु तुम्हारे सेवक तक बन जायेंगे। अत: यदि तुम विकृत मस्तिष्क के नहीं हो, तो एकमात्र उन्हीं को चुनोगे, क्योंकि तुम्हें सर्वोच्च आनन्द तथा ज्ञान की प्राप्ति केवल उन्हीं से होगी। ❑❑❑

सहज साधक : सन्त रविदास

डॉ. राम निवास

मध्यकालीन सन्तों में सन्त रविदास का महत्वपूर्ण स्थान है। वे कोरे आध्यात्म में विश्वास नहीं करते। गृहस्थ जीवन में रहकर अपना पैतृक व्यवसाय करते हुए, वे परम धाम को प्राप्त करते हैं। श्रम में उनकी पूर्ण निष्ठा है। सत्य जीवन का अनिवार्य अंग है। वेद शास्त्र और उपनिषदों में जो सत्य और सुन्दर है, वह उन्हें स्वीकार्य है। खण्डन-मण्डन में वे अपना श्रम और शक्ति नहीं लगाते। मानवता में उनकी आस्था है। जीवन के विधेयात्मक और निषेधात्मक – दोनों पक्षों को वे समाज के सम्मुख रखते हैं। धर्म के नाम पर फैले थोथे कर्मकाण्ड के आवरण को सहजता से परे हटाकर वे ज्ञान के प्रकाश में अपना आत्म अनुभव लोक-जीवन के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं। वे अत्यन्त सरल और सहज हैं। वे विनम्र और अहंकार से मुक्त हैं और साथ ही वे सत्य के साधक हैं। सगुण-साधना विषयक उनका अनुभव देखिए।

वे कहते हैं – "परमात्मा को प्राप्त करने हेतु जो लोक-प्रचलित कर्म हैं, इन्हें करता हुआ मैं हार गया हूँ, मेरा शरीर भी थक गया है और मेरा मन भी इनमें नहीं रमता। परन्तु लोक और वेद में इनकी प्रशंसा है। भक्ति में नाचना-गाना, सेवा-पूजा, काम तथा क्रोध से मैं थक गया हूँ। कहिये, इन समस्त कर्मों में थकाने के अलावा दूसरा तत्त्व कहाँ छिपा है। मैं 'राम' का जन हूँ। भक्त नहीं कहलाता, देवमूर्ति के चरण नहीं धोता। ये सारे कर्म मुझे बाँधते हैं, मुक्त नहीं करते। इन कर्मों में परम तत्त्व नहीं है। पहले ज्ञान का प्रकाश मेरे अन्दर हुआ, फिर सहज शून्य में ज्ञान का प्रकाश भी पीछे छूट गया, अब मैं राम और खुदा का नाम भी नहीं जपता। षट् कर्म और समस्त प्रकार के कर्म दूर हो गए हैं। ज्ञान और ध्यान भी दूर छोड़ दिए हैं। जहाँ पंच विकार थक जाते हैं, वहीं पर परम तत्त्व में ठहराव होने लगता है। जिस ईश्वर के कारण मैं दौड़ता फिर रहा था, अब वह मेरे हृदय में प्रकट हो गए हैं। मेरे पाँचों ज्ञानेन्द्रियों ने ही यह परम निधि अर्थात् ईश्वर से मिलाप कराया है। मरा मन अब अतीव प्रसन्न है। इसकी गति संसार से उलटकर परमात्मा की ओर हो गई है। परमात्मा सहज मिल गए। मेरे सम्मुख प्रकट हो गए हैं। विभिन्न कर्मों को करते हुए मेरा मन थक गया है, अब मुझसे चला नहीं जाता। परमात्मा, जिन्हें मैं प्राप्त करना चाहता था, मन अब उन्हीं में रम गया है, उनमें एकाकार हो गया है। रविदास उस परमात्मा की प्रशंसा करते हैं।"

अब मैं हार्‌यो रे भाई।
थकित भयों सब हाल चाल ते लोकन वेद बड़ाई।।
थकित भयों गायन अरु नाचन, थाकी सेवा पूजा।
काम क्रोध ते देह थकित भई, कहौं कहाँ लौं दूजा।।
राम जनहूँ ना भगत कहाऊँ, चरन पखारुँ न देवा।
जोइ जोइ करौं उलटि मोहिं बाँधै,
ता ते निकट न भेवा।।
पहिले ज्ञान किया चाँदना, पाछे दिया बुझाई।
सुन्न सहज मैं दोऊ त्यागे, राम न कहुँ खुदाई।।
दूर बसे षट कर्म सकल अरु, दूरउ कीन्हे सेऊ।
ज्ञान ध्यान दूर दोउ कीन्हे, दूरिउ छाड़े तेऊ।।
पाँचो थकित भये हैं जहँ-तहँ, जहाँ-तहाँ थिति पाई।
जा कारन मैं दौरो फिरतो, सो अब घट में आई।।
पाँचो मेरी सखी सहेली, तिन निधि दई दिखाई।
अब मन फूलि भयो जग महियाँ,
आप में उलटि समाई।।
चलत चलत मेरो निज मन थाक्यो,
अब मोसो चलो न जाई।
साईं सहज मिलो सोइ सनमुख कह रैदास बड़ाई।।

वे कहते हैं – "अब मैं किसको गाऊँ। जिस गानवहार को मैं गाता था, वह अब मेरे अन्दर प्रकट हो गया है। जब तक शरीर की आशा है तभी तक मनुष्य पुकार करता है। जब मन परमात्मा में मिल जाता है तब शरीर की आशा स्वतः ही छूट जाती है फिर कोई गावनहारा नहीं रह जाता। जब तक नदी समुद्र से नहीं मिलती, तभी तक वह उफनती है; जब मन परमात्मा में मिल जाता है, तब पुकार मिट जाती है। जब तक परम तत्त्व को सुन-सुनकर बिना अनुभव के गाते हैं, तब तक भक्ति-मुक्ति की आशा शेष रहती है। आशा के कारण जहाँ-जहाँ भी कुछ प्राप्त करने के लिए मन खोजता है, वहाँ पर कुछ नहीं मिलता। समस्त आशा-निराशा के इच्छा-बीज को जड़मूल से समाप्त करने पर ही सच्चा सुख – परम पद मिलता है। फिर मनुष्य जो भी कुछ करता है, वही कार्य परमात्मा का हो जाता है।"

गाइ गाई अब का कहि गाऊँ।
गावनहार को निकट बताऊँ।।
जब लग है या तन की आसा, तब लग करै पुकारा।
जब मन मिल्यौ आस नहिं तन की तब को गावनहारा।।
जब लग नदी न समुद्र समावै तब लग बढ़े हंकारा।
जब मन मिल्यो राम सागर सों, तब यह मिटी पुकारा।।
जब लग भगति मुकति की आसा,
परम तत्त्व सुनि गावै।
जहँ जहँ आस धरत है यह मन, तहँ-तहँ कछू न पावै।।
छाड़ै आस निरास परम पद, तब सुख सति कर होई।
कह रैदास जासों और करत है, परम तत्त्व अब सोई।।

वे और भी कहते हैं – ''मैं तो राम का जन हूँ – भक्त नहीं कहलाता, क्योंकि मैं दास और भक्तों की सेवा नहीं करता। यज्ञ, योग, गुण – मैं कुछ नहीं जानता, इनसे मैं उदास हूँ। भक्त होने पर उसकी प्रशंसा फैल जाती है। योगी को संसार मानने लगता है। गुण धारण करने पर गुणवान माना जाता है। गुणी भी अपने आप को मानने लगता है। मैंने ममता और मोह को नहीं मथा, क्योंकि ये सब नाशवान हैं। स्वर्ग और नरक एक समान मानिये। ये दो नहीं हैं इन्हें दो मानने पर ही विवाद होता है। सत्य छिप जाता है। मैं-मेरे की ममता सारे संसार में विद्यमान है। 'मैं' के कारण ही मनुष्य अपने मूल परम तत्त्व को गँवा देता है। जब तक मन में सभी के प्रति एक समदृष्टि नहीं उत्पन्न होती, तब तक वह एक परमात्मा नहीं मिलते। मन-भेद से ईश्वर-प्राप्ति नहीं होती है। कृष्ण-करीम, राम-हरि-राघव, वेद-कुरान, पुरान – इन सभी में सहज भाव समदृष्टि रखने पर ही एक ईश्वर मिलते हैं। मैंने संसार में जिस-जिस की भी पूजा की है वहीं कच्चा अर्थात् अधूरा निकला। पूर्णता नहीं मिली। केवल सहज समाधि में सहज भाव ही वास्तविक सत्य है। रविदास कहते हैं कि मैं तो उसकी पूजा करता हूँ, जिस ईश्वर का न कोई निश्चित स्थान है और न ही कोई नाम है।''

रामभगत को जन न कहाऊँ, सेवा करूँ न दासा।
जोग जग्य गुन कछू न जानूँ, ताते रहूँ उदासा।।
भगत हुआ तो चढ़ै बड़ाई, जोग करूँ जग मानै।
गुन हुआ तो गुनी जन कहै, गुनी आप को आनै।।
ना मैं ममता मोह न महिया, ये सब जाहिं बिलाई।
दोजख भिस्त दोउ सम कर जानौ,
दुहुँ ते तरक है भाई।।
मैं अरु ममता देखि सकल जग, मैं से मूल गँवाई।
जब मन ममता एक-एक मन तबहि एक है भाई।।
कृस्न करीम राम हरि राघव जब लग एक न पेखा।
बेद कतेब कुरान पुरानन, सहज एक नहिं देखा।।
जोई जोइ पूजिये सोइ सोइ काँची,
सहज भाव सत होइ।
कह रैदास मैं ताहि को पूजूँ,
जाके नाँव ठाँव नहिं होई।।

वे कहते हैं – ''अब मैं डूब रहा हूँ। लोक में मेरी प्रशंसा मान-बड़ाई हो रही है। मेरे हृदय में अहंकार घना है। सत्त्व, रजस् और तमस् में मैं उलझ रहा हूँ, ये त्रिगुण बन्धन ही हैं। सांसारिक कर्मों के बोझ के कारण मुझे कुछ सूझ नहीं रहा है। परमात्मा का नाम भी भूल गया हूँ। हम अपने को गुणी, योगी, सब प्रकार के त्याग करनेवाले मानते हैं, लेकिन मन से ममता नहीं मिटी, तो फिर हमसे बड़ा मूर्ख और कौन है? सम्पूर्ण मन का शोधन कर चेतन की सुधि लेने तथा सारा ज्ञान-ध्यान जाननेवाले होने पर भी हमें यह पता नहीं है कि हम कहाँ जाएँगे। नवधा भक्ति और प्रेमरास के अनुभवी लोगो, यह सब तुम्हारा स्वाँग (नाटक) है। इससे तुम, लोगों को भ्रमित कर रहे हो। स्वाँग सच नहीं होता। जब तक तन-मन में सत्य स्वरूप की धारणा नहीं करते, तब तक सत्य का ज्ञान नहीं होता। अरे सन्तो। हमारी भक्ति ऐसी है जिसमें मान बड़ाई और प्रभुता स्वत: दूर हो जाती है। जब तक जीव अपने आप में ही मस्त है, खोया भटका हुआ है, तब तक वह वास्तविक सत्य को नहीं देखता, वह अपना मूल अर्थात यह अनमोल जीवन यूँ ही निरुद्देश्य गँवा देता है। रविदास कहते हैं कि मेरा मन संसार के आकर्षण से उदास है, अब मुझसे कुछ कहा नहीं जाता। मुझे अवर्णनीय और अनिर्वचनीय सत्य मिल गया है। आपा-भाव मिटाकर ही भक्ति प्राप्त होती है, तभी अपने अन्तर के सत्य को पाया जाता है।''

अब मेरी बूड़ी रे भाई ताते चढ़ी लोक बड़ाई।
अति अहंकार उर माँ सत रज तम ता में रह्यो उरझाई।।
कर्मन बूझि पर्‌यौ कछू नहिं सूझै, स्वामी नाँव भुलाई।
हम मानौ गुनी जोग सुनि जुगता, महा मूरुख रे भाई।।
हम मानौ सूर सकल बिधि त्यागी, ममता नहीं मिटाई।
हम मानौ अखिल सुन्न मन सोध्यो,
सब चेतन सुधि पाई।।
ज्ञान ध्यान सबही हम जान्यो, बूझौं कौन सों जाई।
हम जानौ प्रेम-प्रेम रस जाने नौबिधि भगति कराई।।
स्वाँ देखि सब ही जन लटक्यों, फिरि यों आन बँधाई।
यह तो स्वाँग साँच ना जानो, लोगन यह भरमाई।।
स्वच्छ रूप सेली जब पहरी, बोली तब सुधि आई।
ऐसी भगति हमारी सन्तो, प्रभुता इहइ बड़ाई।
आप अनत और नहिं मानत, ताते मूल गँवाई।।
मन रैदास उदास ताहि ते,
अब कछु मो पै कह्यो न जाई।
आपा खोय भगति होत है, तब रहै अन्तर उरझाई।।

उनका कहना है – ''भक्ति का सच्चा मर्म कैसे प्राप्त हो; मेरा संसार से आवागमन किस युक्ति से छूटे – पण्डितजनो, समझाकर कहो। प्रत्येक व्यक्ति अनेकविध धर्म का निरूपण करता हुआ दिखता है। जिस धर्म-विधि से भ्रम छूटता है, उस सच्चे धर्म को कोई नहीं पहचानता। वेद-पुराणों में कर्म और अकर्म का विचार सुनते हुए हृदय में सदैव संशय बना रहता है, निकलता नहीं। परमात्मा के बिना अभिमान को कौन दूर कर सकता है? कोई नहीं। आँखें बन्द करके क्या खोजता है? तेरे हृदय में अनगिनत विकार भरे हुए हैं। पवित्रता कैसे आएगी? यह तो उस हाथी के समान व्यवहार है, जो स्नान करने के बाद फिर अपने सिर में धूल डाल लेता है। सतयुग में सत्य, त्रेता में तप और द्वापर में पूजा। इन

तीन युगों में इन तीन दृष्टियों की प्रधानता रही है। कलियुग में तो केवल नाम सुमिरन ही आधार है। सूर्य के प्रकाश से ही रात-दिन होते हैं और समय बीतता जाता है, यही संसार की गति है। लोहे से पारस छूने पर वह एक बार में ही सोना बन जाता है, किन्तु तांबा बारम्बार छूने पर भी नहीं बनता। धन और जवानी से परमात्मा नहीं, बल्कि दारुण दुख मिलते हैं। संसार में एक से बढ़कर एक दुखी हैं, यह सभी जानते हैं। अनेक विधि से प्रयत्न करने पर भी भ्रम का बन्धन नहीं छूटता। प्रेम-भक्ति का उदय हुए बिना परमात्मा नहीं मिलते। रविदास कहते हैं कि परमात्मा के प्रति प्रेम का उदय होने पर ही सांसारिक बन्धनों के प्रति उदासी का भाव आता है।''

मरम कैसे पाइब रे।
पंडित कौन कहैं समुझाई,
जाते मेरो आवागमन बिलाई।।
बहुविधि धरम निरूपिये, करते देखे सब कोई।
जोहि धरमे भ्रम छुटिहै, सो धरम न चीन्हे कोई।।
करम अकरम बिचारिये, सुनि सुनि बेद पुरान।
संसा सदा हिरदे बसै, हरि बिन कौन हरै अभिमान।।
बाहर मूँदि कै खोजिये, घट भीतर बिबिध बिकार।
सुचि कौन बिधि होहिंगे, जस कुंजर बिधि ब्यौहार।।
सतजुग सत त्रेता तप करते द्वापर पूजा आचार।
तिहूँ जुगी तीनों दृष्टि कलि केवल नाम अधार।।
रवि प्रकाश रजनी जथा, यों गत दीसै संसार।
पारसमणि ताँबौ छिवा कनक होत नहिं बार।।
धन जोबन हरि ना मिलै दुख दारुन अधिक अपार।
एकै एक बियोगियाँ ता को जानै सब संसार।।
अनेक जतन करि टारिये टारे न टरै भ्रम पास।
प्रेम भगति नहिं ऊपजै, ता ते जन रैदास उदास।।

''हे परमात्मा, मैंने अनन्त पाप किए हैं। तुम पतितपावन हो। जीव और ईश्वर अर्थात् तुम्हारे और मेरे बीच भेद कैसा? जैसे सोने तथा उसके बने आभूषण, जल तथा उसमें उठनेवाली तरंग, वस्तुत: एक ही तत्त्व है, यही आत्मा-परमात्मा का रहस्य है। मैं मनुष्य हूँ, तू सबका अन्तर्यामी है। तू सबका मालिक है, तू सभी के हृदय की बात जानता है। तू सारी सृष्टि में रम हुआ है और यह सारी सृष्टि तुझ में ही स्थित है। रविदास कहते हैं कि इसमें कोई शंका नहीं है।''

देवा हम पाप करंत अनंत,
पतित पावन तेरा बिरद क्यों कहता।।
तोहिं मोहिं मोहिं तोहिं अन्तर ऐसा,
कनक कटक जलतरंग जैसा।।
मैं कोई नर तुहिं अंतरजामी ठाकुर थैं,
जन जानिये जन थैं स्वामी।।
तुम सबन में सब तुम माहीं,
रैदास दास असमंजस नाहिं।।

एक ऐसा राज्य जिसमें किसी प्रकार का भेदभाव नहीं। ऊँच-नीच नहीं। किसी तरह का शोषण नहीं। श्रम की उपेक्षा नहीं। पाण्डित्य का अभिमान नहीं, बाह्याडम्बर नहीं। उन्होंने ऐसे सुख-राज्य का पूरा ढाँचा हमारे सामने रख दिया है। वे इस पूर्ण सुख-धाम का नाम देते हैं बेगमपुर बे-गम, दुखमुक्त नगर। इस नगर की विशेषताओं के सम्बन्ध में वे कहते हैं –

''अब मैंने अपने वास्तविक देश (घर) को प्राप्त कर लिया है। यह घर सदा ही मेरे मन भाया है। बेगमपुर में किसी को कोई भी दुख नहीं। कोई चिन्ता नहीं। यहाँ किसी प्रकार का कर नहीं देना पड़ता, इसलिए उसकी घबराहट नहीं होती। यहाँ किसी प्रकार का भय नहीं है। यहाँ कोई अपराध नहीं करता। न कोई तरस योग्य है। न किसी को घाटा पड़ता है। अब मुझे ऐसे देश में बसने का सुयोग प्राप्त हो गया है। हे मेरे भाई ! यहाँ सदैव ही कुशल-मंगल रहता है। यहाँ पातशाही शासन व्यवस्था आदि सदा स्थायी और स्थिर रहती है। यह नगर सदा आबाद रहता है। यहाँ पर सभी धनी और सन्तुष्ट लोग बसते हैं। सभी लोग अपनी इच्छानुसार जहाँ चाहें, विचरण करते हैं। यहाँ महलों में जाने से कोई पहरेदार रोकता-टोकता नहीं है। जीवनमुक्त रविदास कहते हैं कि जो इस नगर में रहता है वही हमारा मित्र है।''

अब हम खूब वतन घर पाया,
ऊँचा खेर सदा मेरे मन भाया।
बेगम पुर सहर का नाम,
फिकर अँदेस नहीं तेहि ग्राम।।
नहिं जहाँ साँसत लानत मार,
है फन खता न तरस जवाल।।
आव न जाव रहम औजूद,
जहाँ गनी आप बसै बामूद।।
जोई सैलि करै सोई भावै,
मरहम महल में को अटकावै।।
कह रैदास खलास चमारा,
जो उस सहर सो मीत हमारा।।

भ्रम के बन्धनों से मुक्त इनकी वाणी, उस अलख अदेख निर्गुण निराकार ईश्वर की महिमा का बखान करती है, जो सृष्टि की सर्वोच्च सत्ता है। धर्म के नाम पर प्रचलित रूढ़ि, अन्धविश्वास ही परमार्थ में बाधक हैं। इनकी वाणी किसी विशेष-धर्म या सम्प्रदाय में बँधी हुई नहीं है। मन के विकारों से मुक्त होने पर जो आध्यात्मिक ज्ञान स्वयं उदय हुआ, वही शब्दों के माध्यम से वाणी में उतर आया है। आत्मानुभव का स्वयंभू ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है, जो युगों-युगों तक शाश्वत रहकर मनुष्य जाति को परमार्थ का रास्ता दिखाता रहता है। सन्त रविदास की वाणी इसी शाश्वत ज्ञान से समृद्ध है।

❑❑❑